हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
की
७५वीं जयन्ती पर केन्द्रित संगोष्ठी विशेषांक

भाग – ६३ अंक – २
सन् – २००२ (अप्रैल-जून)

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

हिन्दुस्तानी

(त्रैमासिक शोध एवं सृजन पत्रिका)

भाग - ६३
अंक - २

अप्रैल - जून
सन् २००२

(संगोष्ठी-विशेषांक)

मूल्य : ३० रुपये

वार्षिक : १२० रुपये

अनुक्रम

संपादकीय

भाषा-साहित्य – संस्कृति संदर्भ
व्याख्यान एवं संगोष्ठियों का जीवन्त मंच

विचार–विमर्श, व्याख्यान, चर्चा–परिचर्चा और संवाद–परिसंवाद की दृष्टि से हिन्दुस्तानी एकेडेमी का मंच सदैव जीवन्त रहा है। देश के शीर्ष विद्वानों को एकेडेमी समय–समय पर आमंत्रित करती रही है। इसकी एक परम्परा व्याख्यानमालाओं से जुड़ी है। एकेडेमी की व्याख्यानमालाएँ विशिष्ट विद्वानों को आमंत्रित करके आयोजित होती रहीं हैं। पहले मात्र 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी व्याख्यानमाला' का आयोजन होता था। इसमें दिये गये व्याख्यानों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाता था। एकेडेमी के प्रारंभिक कालखण्ड में एक स्वस्थ्य परंपरा यह भी थी कि जो व्याख्यान हिन्दी में होते थे उनका रूपान्तरण उर्दू में किसी अधिकारी विद्वान द्वारा कराया जाता था। इसी प्रकार उर्दू–विद्वान के भाषण का भाषान्तर हिन्दी में प्रस्तुत होता था।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने अपने क्रियाकलापों को उच्च बौद्धिक आयाम देने के लिये विशेषज्ञों एवं विद्वानों के व्याख्यानों की परंपरा का सूत्रपात २, ३ और ४ मार्च सन १९२८ को किया था। प्रथम व्याख्यान उक्त तिथियों पर उर्दू में अल्लामा अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली का **'माशरती और एफतसादी हालात'** शीर्षक के अन्तर्गत हुआ था। वे अपने समय के विशिष्ट विद्वान भारतीय इतिहासज्ञ भाषाविद् और अध्येता थे। उनका भाषण एकेडेमी ने **'मध्यकालीन भारत की सामाजिक और आर्थिक अवस्था'** शीर्षक से १९२८ में प्रकाशित किया था। यह भाषण मूलतः उर्दू में दिया गया था; लेकिन प्रारंभ में दोनों भाषाओं के विकास के लिये स्थापित एकेडेमी ने उसका अनुवाद प्रकाशित करके एक उदार दिशादृष्टि देने का प्रयास किया था। यह परंपरा आगे भी कुछ वर्षों तक चली भी थी। इसी क्रम में १३, १४ सितम्बर १९२८ को रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने **'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति'** विषय पर तीन व्याख्यान दिये थे; जिनका प्रकाशन उसी वर्ष हो गया था। इसका उर्दू रूपान्तर **'कुरूनउस्ता में हिन्दुस्तानी तहज़ीब'** शीर्षक से एकेडेमी ने प्रकाशित किया था। इस महत्वपूर्ण व्याख्यान के १९५२ तक तीन संस्करण प्रकाशित हुए थे।

१९३२ में १६वीं शताब्दी के आरम्भ से १९वीं शताब्दी के अन्त तक की

'भारतीय चित्रकला की परंपरा' पर ख्यातिप्राप्त कला–समीक्षक और इंडियन सिविल सर्विस से सम्बद्ध नानालाल चमनलाल मेहता का व्याख्यान १२ फरवरी १९३३ को आयोजित हुआ था। भारतीय कला पर प्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में यह हिन्दी जगत् में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ, जिसमें ४२ रंगीन और श्वेत–श्याम चित्रों को भी प्रदर्शित किया गया था। एकेडेमी का यह बहुमूल्य ग्रन्थ पुनर्मुद्रण की बाट जोह रहा है।

एकेडेमी व्याख्यानमाला में जिन विद्वानों ने अपना योगदान दिया था, उनमें प्रमुख हैं – डॉ० बाबूराम सक्सेना उनका **'दक्खिनी हिन्दी'** विषयक व्याख्यान १८ मार्च १९४५ को हुआ था। एकेडेमी ने इसका प्रकाशन १९५१ में किया। ७ दिसम्बर १९५७ को एकेडेमी के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर इतिहास, पुरातत्व एवं साहित्य के मनीषी विद्वान डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने **'मार्कण्डेय पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन'** विषयक एक महत्वपूर्ण व्याख्यान दिया था, यह व्याख्यान १९६१ में छपा था।

अक्टूबर १९७३ ई० में एकेडेमी के अनुरोध पर डॉ० रामविलास शर्मा जी ने अपनी मौलिक और पैनी दृष्टि से **'आर्य और द्रविड़ भाषा परिवारों का सम्बन्ध'** शीर्षक से सारगर्भित व्याख्यान दिया था। यह व्याख्यान १९७९ में प्रकाशित हुआ। १९७९ में २८ और २९ मार्च को संयुक्त प्रान्त की हिन्दुस्तानी एकेडेमी की अवधानता में प्रयाग में २२ और २३ मार्च १९२९ को मौलाना सय्यद सुलैमान नदवी का उर्दू व्याख्यान **'अरब हिन्द के ताल्लुकात'** शीर्षक से हुआ था; जिसका बाबू रामचन्द्र वर्मा द्वारा प्रस्तुत हिन्दी रुपान्तर **'अरब और भारत के सम्बन्ध'** शीर्षक से १९३० में छपा था। इस पुस्तक की सारी घटनाएँ एवं सामग्री अरबी की प्रामाणिक पुस्तकों से प्राप्त की गयीं थीं; कहीं–कहीं अंग्रेजी और फारसी ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया था। यह अनुपम ग्रन्थ एकेडेमी की एक विशिष्ट निधि है।

५, ६ और ७ मार्च १९३२ में पं० पद्मसिंह शर्मा का व्याख्यान एकेडेमी के तृतीय अधिवेशन में **'हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी'** शीर्षक के अन्तर्गत हुआ और उसे उसी वर्ष प्रकाशित भी कर दिया गया था। हिन्दी उर्दू में परस्पर आदान–प्रदान का यह प्रयास एकेडेमी स्थायी रुप से नहीं कर सकी। इसका कारण मात्र एकेडेमी की आर्थिक अक्षमता ही थी। सम्भवतः साधनों के अभाव में यह परंपरा निरंतरता नहीं प्राप्त कर सकी। भाषायी आदान–प्रदान की दृष्टि से एकेडेमी का यह प्रयास समन्वय और भाषायी सौमनस्य की दृष्टि से आज भी परमोपयोगी है। एकेडेमी व्याख्यानमाला के अन्तर्गत अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। इन ग्रन्थों को साहित्य जगत् में अत्यन्त प्रतिष्ठा भी प्राप्त हुई है। इस व्याख्यानमाला के माध्यम से प्रायः साहित्य, कला, संस्कृति के क्षेत्र के शीर्ष विद्वान जुड़ते रहे। सन् १९२९ में महामहोपाध्याय गंगानाथ झा का प्राचीन कवि समय और कवि–शिक्षा पर

आधारित **'कवि रहस्य'** शीर्षक से एक व्याख्यान हुआ था। इस व्याख्यान को एकेडेमी ने सन् १९२६ में सज्जित रुप से प्रकाशित किया था। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान फादर कामिल बुल्के का व्याख्यान २७. २८ मार्च १९७६ को **''रामकथा और तुलसीदास''** एकेडेमी ने आयोजित किया, जो १९७७ में प्रकाशित हुआ।

एकेडेमी व्याख्यानमाला के अन्तर्गत अन्य प्रकाशित व्याख्यान हैं — **आधुनिक हिन्दी का आदिकाल (१८५६-१९०८)**, श्रीनारायण चतुर्वेदी का व्याख्यान, ९ तथा १० सितम्बर १९७२, प्रकाशन वर्ष १९७३ **हिन्दी भाषा के विकास की दिशायें**, श्री सुधाकर पाण्डेय का व्याख्यान २४–२५ फरवरी १९७३, प्रकाशित १९७७ **जायसी**--प्रो० विजय देवनारायण साही का व्याख्यान १७, १८, १९ मार्च १९९२, प्रकाशित १९८३ तथा डॉ० प्रभाकर माचवे का **'हिन्दी आलोचना अतीत और वर्तमान'** विषयक व्याख्यान २८ तथा २९ जुलाई १९९४, प्रकाशित १९८८ में।

इनके अतिरिक्त जिन अन्य विभूतियों के व्याख्यान एकेडेमी में हुए हैं उनमें प्रमुख हैं — डॉ० ताराचन्द्र, डॉ० भगवानदास, डॉ० ज़ाकिर हुसैन, राहुल सांकृत्यायन, डॉ० मोतीचन्द्र, प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, डॉ० हरदेव बाहरी, डॉ० इक़बाल नारायण, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी अदि।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने डॉ० धीरेन्द्र वर्मा की स्मृति में उनके परिवार से प्रदत्त राशि के सहारे एक व्याख्यानमाला का श्रीगणेश किया था। इसका प्रथम व्याख्यान डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने १९९३ ई० में **'सहृदय एवं साधारणीकरण'** शीर्षक से दिया था। यह व्याख्यान एकेडेमी द्वारा १९८५ में प्रकाशित हुआ था। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के चैंत्यनिक आलोक में प्रस्तुत यह व्याख्यान विद्वानों द्वारा सराहा गया है। इसी श्रृंखला में ठाकुर जयदेव सिंह का व्याख्यान ३–४ फरवरी १९८४ में **'भारतीय संस्कृति में ललित कला का महत्व'** आयोजित किया गया था जो उसी वर्ष छपा। मार्च ८७ में प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी ने **'संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य में लोक संस्कृति'** विषयक व्याख्यान दिया था। १९९० में सुप्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया का **'हिन्दी भाषा तथा भारतीय भाषाओं के समान तत्त्व'** विषयक महत्वपूर्ण भाषण आयोजित हुआ। इस भाषण का प्रकाशन १९९५ में सम्भव हो पाया। सुप्रसिद्ध प्राच्यविद्याविद् डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डे ने **'साहित्य सौन्दर्य और संस्कृति'** शीर्षक से व्याख्यान १९९३ ई० में दिया था; जो सज्जित रूप में १९९५ में प्रकाशित हुआ। प्रायः इसी वर्ष **'साहित्य और पत्रकारिता'** विषय पर सुप्रसिद्ध पत्रकार डॉ० लक्ष्मीशंकर व्यास का व्याख्यान आयोजित हुआ; जिसे हिन्दुस्तानी के २००१ के २ और ३ अंक में प्रकाशित किया गया है। **'चिन्मय भारत अथवा आर्ष चिन्तन के बुनियादी सूत्र'** डॉ० कुबेरनाथ राय का अतिविशिष्ट व्याख्यान १९९५ में आयोजित हुआ और यह मानक ग्रन्थ के रुप में १९९६ में छपा। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा भाषा और संस्कृति के अग्रणी विद्वान थे, अतएव उनकी स्मृति में यह व्याख्यानमाला साहित्य जगत् में

अपना शीर्ष स्थान बनाये हुए है।

कवि, विचारक और वाग्मी विजयदेवनारायण साही की स्मृति में उनकी पत्नी श्रीमती कंचनलता साही के सहयोग से प्राप्त धनराशि से प्रतिवर्ष एक व्याख्यान एकेडेमी आयोजित करती है। इसके अन्तर्गत अब तक निम्नलिखत साहित्यकारों के व्याख्यान आयोजित हुए हैं—— श्री अशोक बाजपेयी (१९९७), श्री लक्ष्मीकांत वर्मा (१९९८), तथा श्री केशवचन्द्र वर्मा (२००१)।

इसी प्रकार प्रसिद्ध भौतिकी–वैज्ञानिक डॉ० हरिमोहन की स्मृति में उनकी पत्नी श्रीमती निर्मला अग्रवाल के सहयोग से विज्ञान विषयक व्याख्यानों की परंपरा का एकेडेमी में सूत्रपात हुआ। अब तक डॉ० हरिमोहन की स्मृति में डॉ० शिवगोपाल मिश्र का व्याख्यान १९. ७. ९७ में तथा डॉ० मंजू शर्मा, सचिव, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, भारत सरकार का व्याख्यान २९. ७. २००० को सम्पन्न हुआ है।

इसी क्रम में भाषाशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० उदयनारायण तिवारी की स्मृति में सन् १९९७ से एक विशेष व्याख्यानमाला का प्रवर्तन हुआ है। डॉ० शिवगोपाल मिश्र एवं डॉ० रामकुमारी मिश्र के सौजन्य से प्रदत्त राशि के सहारे यह व्याख्यानमाला प्रतिवर्ष आयोजित होती है; जिसमें अब तक — डॉ० हरदेव बाहरी, डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, डॉ० महावीरसरन जैन, डॉ० विद्यानिवास मिश्र, डॉ० सूरजभान सिंह एवं डॉ० ना० सुन्दरम के व्याख्यान हुए हैं।

एकेडेमी ने **'लोकतंत्र', भाषा और राष्ट्रिय अस्मिता,** और **संस्कृति के नये संदर्भ'** विषय पर देश के शीर्ष विद्वानों को आमंत्रित करके व्याख्यान आयोजित किये और उनमें अच्छी चर्चाएं हुईं। १९९७ में प्रकाशित **'भाषा और राष्ट्रीय अस्मिता'** शीर्षक से ९ श्रेष्ठ विद्वानों के विचारों को सम्पादित रुप में डॉ० रामकमल राय ने प्रस्तुत किया है। डॉ० राय ने अपने अध्यक्षीय कार्यकाल में अज्ञेय, निराला, महादेवी, फ़िराक़ के अतिरिक्त अनेक साहित्यिक विभूतियों की स्मृति में विचारोत्तेजक व्याख्यानमालाओं का सूत्रपात किया था।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी जहाँ अपनी विशिष्ट व्याख्यानमालाओं के कारण विख्यात है; वहीं इसकी परिसंवाद और संगोष्ठी परंपरा भी सदैव प्राणवान रही है। इन संगोष्ठियों में सम्मिलित होते थे ज्ञान–विज्ञान के विविध अनुशासनों के मूर्धन्य रचनाकार और लब्धप्रतिष्ठ विद्वान, इनमें पठित आलेख अथवा वक्तव्य पर विभिन्न कोणों से विचार–विमर्श होते थे। प्रमुख संगोष्ठियों के कुछ आलेखों को इस 'संगोष्ठी–विशेषांक' में निदर्शनार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है। सन् १९७१ में आयोजित 'रचना की प्रासंगिकता का निकष' विषयक परिसंवाद में भाग लेने वाले साहित्यिकों में थे — डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, बालकृष्ण राव, डॉ० रामस्वरुप चतुर्वेदी, प्रोफेसर एहतेशाम हुसैन, डॉ० नामवर सिंह, डॉ० रमेशचन्द्र शाह, डॉ० रामखिलावन पाण्डेय, डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, अशोक बाजपेयी, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, डॉ०

जगदीश गुप्त, डॉ० केदारनाथ सिंह, डॉ० रघुवंश, डॉ० रामप्रकाश अग्रवाल, महाकवि सुमित्रानंदन पंत। उसी वर्ष आयोजित अन्य संगोष्ठियों मे डॉ० नन्दकिशोर, देवराज, डॉ० बाबूराम सक्सेना, महाराजकुमार, डॉ० रघुबीर सिंह, डॉ० अतुलचंद्र वन्द्योपाध्याय, रघुबीरशरण मित्र, विजयदेवनारायण साही, डॉ० आर्येन्द्र शर्मा, डॉ० गोवर्द्धनराम शर्मा, प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, डॉ० ई० पांडुरंगराव, डॉ० विजय राघव रेड्डी, बालकृष्ण मालवीय, अमृतराय, डॉ० विपिनकुमार अग्रवाल, डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, लक्ष्मीकान्त वर्मा आदि थे । १९७२ में 'समकालीन हिन्दी–उर्दू' कथा साहित्य की समानान्तर प्रवृत्तियाँ', शीर्षक अतिविशिष्ट परिसंवाद ४ व ५ मार्च १९७२ को एकेडेमी में आयोजित हुआ था। जिसमें उर्दू पक्ष के विषय प्रवर्तक थे–डॉ० मोहम्मद हुसैन, सुश्री कुर–अ–तुल ऐन हैदर, अनवर अज़ीम, काजी अब्दुसत्तार तथा रामलाल। हिन्दी पक्ष नेमिचन्द्र जैन ने प्रस्तुत किया था और अध्यक्षता बालकृष्ण राव ने की थी । इसमें भाग लेने वाले दोनों भाषाओं के विद्वान थे – डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, जैनेन्द्र कुमार, यशपाल, कमलेश्वर, प्रो० अक़ील रिज़वी, डॉ० मसीहुज्जमा, डॉ० जाफर रजा, डॉ० विद्यानिवास मिश्र, लक्ष्मीकान्त वर्मा, भैरवप्रसाद गुप्त, ज्ञानप्रकाश और प्रो० एहतेशाम हुसैन । यह चर्चा तीन बैठकों में हुई थी । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्तरीय आयोजनों में महीयसी महादेवी और महाकवि सुमिन्त्रान्दन पंत की समुपस्थिति से संगोष्ठियों और परिसंवादों की श्री वृद्धि हो जाती थी । १९७२ में 'वर्तमान युग में काव्य भाषा की समस्याएं' विषय पर आयोजित परिसंवाद में डॉ० नगेन्द्र जैसे शीर्ष आलोचक समुपस्थित थे। इसमें डॉ० वहीद अख़्तर, अजित कुमार, क्षेमचन्द्र सुमन, डॉ० फारूकी, डॉ० बहाव अशरफी, नरेश मेहता, नागेश्वर लाल तथा प्रभातशास्त्री ने भाग लिया था। उसी वर्ष 'नये नाटक की प्रवृत्तियाँ' विषयक परिसंवाद में अमृत लाल नागर ने अध्यक्षता की थी और भाग लेने वालों में थे– नेमिचन्द्र जैन, कु० जाहिदा ज़ैदी, अमृतराय, विश्वंभर मानव, श्रीमती प्रतिभा अग्रवाल, आबिद सुहैल, डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र, आचार्य विष्णुकांत शास्त्री, डॉ० रामकुमार वर्मा, इकबाल मज़ीद, दूधनाथ सिंह, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकान्त वर्मा, श्रीमती उमाराव, डॉ० रघुवंश, आलोक राय, डॉ० राजेश्वर अर्गल तथा डॉ० विपिनकुमार अग्रवाल। इसमें प्रायः देश के प्रख्यात नाटककार, रंगकर्मी और उसकी बारीकियों को जानने–परखने वाले मनीषी एकेडेमी के आमंत्रण पर पधारे थे।

इसी प्रसंग में ३ अगस्त १९९० को से ६ अगस्त १९०० की संगोष्ठी का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा जो राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की जयन्ती 'कवि–दिवस' के अवसर पर एकेडेमी में डॉ० जगदीश गुप्त जी द्वारा आयोजित की गई थी। इसमें विचारणीय विषय थे 'लोकतंत्र की अवधारणा और भारतीय दृष्टि' इसी के अन्तर्गत 'लोकतंत्र के विश्वव्यापी उन्मेष', 'साम्यवादी चिंतन : यूरोप और एशिया के बदलते सन्दर्भ' आदि विषयों पर व्यापक चर्चा हुई थी और इस

सारी चर्चा को 'हिन्दुस्तानी पत्रिका' के लोकतंत्र विशेषांक के जनवरी–जून १९९१ में प्रकाशित किया गया था। उस समय एकेडेमी की अध्यक्षता यशस्वी कवि और नाटककार डॉ० रामकुमार वर्मा कर रहे थे। यह संगोष्ठी इसलिए भी महत्त्वपूर्ण थी कि इसमें तत्कालीन राज्यपाल विश्वनाथ सत्यनारायण रेड्डी पधारे थे और उन्होंने कवि–दिवस पर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की थी। इस संगोष्ठी में भाग लेने वाले यशस्वी विचारकों, रचनाकारों और चिन्तकों की नामावली इस प्रकार है– सर्वश्री लक्ष्मीकांत वर्मा (विषय प्रवर्तक), डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, गिरिराज किशोर, डॉ० कृष्णनाथ, जितेन्द्र सिंह, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, डॉ० युगेश्वर, डॉ० प्रणवकुमार बंद्योपाध्याय, डॉ० रामकमल राय, डॉ० देवराज, डॉ० हर्षनारायण, निर्मल वर्मा, डॉ० रणजीत, केशवचन्द्र वर्मा, डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र, ठाकुर प्रसाद सिंह, डॉ० परमानंद श्रीवास्तव, डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, डॉ० जगदीश गुप्त, दूधनाथ सिंह, शैलेश मटियानी, डॉ० महेन्द्र कर्तिकेय, विशननारायण टंडन तथा न्यायमूर्ति प्रेमशंकर गुप्त।

एकेडेमी के प्रशाल में प्रायः अज्ञेय, नामवर सिंह और विजयदेव नारायण साही की समुपस्थिति में अत्याधुनिक विषयों पर व्याख्यान होते थे। इन अवसरों पर रचनाकारों और विचारकों के उद्गारों पर विचार मंथन होता था।

एकेडेमी की संगोष्ठियों एवं परिसंवादों की परम्परा आज भी चल रही है और यही कारण है कि यह संस्था प्राणवान, ऊर्जावान और जीवन्त भाषिक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक चिन्तन का केन्द्र बनी हुई है

हरिमोहन मालवीय

आलेख

भारतीय संस्कृति की समकालीन व्याख्या

डॉ० देवराज

जिसे हम संस्कृति तत्व कहते हैं वह किसी जाति या व्यक्ति की जीवन-समृध्दि का उपकरण होता है। संस्कृति शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। नर-विज्ञान एवं समाजशास्त्र में संस्कृति का अर्थ समस्त सीखा हुआ व्यवहार होता है। पशु-पक्षी मुख्यतः तीन मूल प्रवृत्तियों के दबाव में सक्रिय होते हैं, ये नई बातें सीखते हैं, लेकिन बड़ी कठिनाई से और बहुत कम। यही कारण है कि एक जाति के पशु-पक्षियों का व्यवहार बहुत कुछ समान होता है-विशेषतः एक ही भौगोलिक परिवेश में। इसके विपरीत मनुष्य के क्रिया-कलापों में अपरिमित विविधता रहती है। जंगल में रहने-घूमने वाले जंतु, अपने-अपने जातीय स्वभाव के अनुरूप, प्रायः एक ही तरह का आहार करते हैं, इसके विपरीत मनुष्यों के खान-पान में विविधता का अंत नहीं है। मूल प्रवृत्तियों के नियंत्रण से उभड़ कर मनुष्य, अपने परिवेश में उपलब्ध सामग्री के अनुसार, अपनी जरूरतों को तरह-तरह से पूरा करता है। अपनी खेती करना, अनाज का संग्रह करके रखना, कपड़ा बुनना, मकान बनाना, आदि असंख्य काम सीख डाले हैं, और तरह-तरह के औजार एवं यंत्र निर्मित किये हैं। मनुष्य के सब व्यापारों पर सर्जनात्मक अनेकरूपता की छाप दिखाई पड़ती है। एक और बात है, मनुष्य अपने कार्य करने के तरीकों को अपने बच्चों को सिखा देता है, वह अपने ज्ञान को भाषा द्वारा वर्तमान और भावी पीढ़ियों में संक्रान्त कर देता है। इसलिए नर-विज्ञान और समाजशास्त्र में संस्कृति का दूसरा पर्याय परंपरा भी है। व्यवहार के जिन रूपों को हम पिछली पीढ़ियों से विरासत के रूप में पाते हैं वे सब हमारी संस्कृति हैं।

नर-विज्ञान और समाज-शास्त्र की मान्यता के अनुसार मनुष्य की जीवन-यात्रा में परम्परा का महत्त्व सर्वातिशयी है। इस परम्परा में व्यक्ति जो थोड़ा बहुत परिवर्तन करता है उसका महत्त्व नितान्त सीमित हैं इस तथ्य पर रूथ वेनिडिक्ट ने विशेष जोर दिया है।

किंतु उक्त विज्ञानों के बाहर संस्कृति की एक मूल्य-परक धारणा प्रचलित है, इस धारणा के अनुसार कुछ व्यक्ति कम और कुछ अधिक संस्कृत होते हैं। इस अर्थ में सांस्कृतिक क्रियाएँ उपयोगी क्रियाओं से भिन्न समझी जाती हैं। या माना जाता है कि संस्कृति का क्षेत्र विभिन्न ज्ञान-विज्ञान, कलाएँ, दर्शन आदि है। इस निबन्ध में हम संस्कृति शब्द का प्रयोग मुख्यतः इसी अर्थ में कर रहे हैं। इस परिप्रेक्ष्य में जाति-विशेष की संस्कृति का अर्थ है, उसकी वैज्ञानिक चेतना, उसका सौन्दर्य-बोध, नीतिबोध, आध्यात्मिक बोध इत्यादि। किसी देश या जाति का धर्म और दर्शन उसकी अन्य मूल्य दृष्टियों का आधार खड़ा करते हैं, वे देश-विशेष या जाति-विशेष के विश्व, जगत्, एवं इतिहास के प्रति मनोभावों का भी निर्धारण एवं निर्माण करते हैं।

भारतवर्ष एक पुराना देश है, उसका लम्बा इतिहास है जिसमें समय-समय पर अनेक परम्पराएं विकसित हुई हैं। कहा जाता है, और यह कुछ हद तक ठीक भी है, कि हमारे देश की संस्कृति धर्म या आध्यात्म प्रधान रही है। इस वक्तव्य या धारणा के दो पहलू है एक यह कि हमारे देश में मोक्ष को चरम और उच्चतम पुरुषार्थ माना गया है, दूसरा यह कि यहाँ के लोग लौकिक जीवन और समृध्दि के प्रति कमोवेश उदासीन रहे हैं।

"किंतु भारतीय संस्कृति का यह रूपांकन एकांगी और भ्रामक भी है। सच यह है कि यहाँ की संस्कृति में जहाँ कुछ युगों में ऐहिक मूल्यों का प्राधान्य रहा है, वहाँ दूसरे युगों में कभी ऐहलौकिक एवं पारलौकिक निष्ठाओं का संतुलन और कभी-कभी पारलौकिक निष्ठा का पलड़ा भारी पड़ता दिखाई देता है। उदाहरण के लिए जहाँ ऋग्वेदकालीन सभ्यता का मूल स्वर ऐहिक है, वहाँ मौर्यकालीन एवं गुप्तकालीन संस्कृति में इस लोक और परलोक की निष्ठाओं का समतोल दिखाई पड़ता है। उक्त दो युगों में इस देश में लौकिक विद्याओं एवं धार्मिक-आध्यात्मिक चिन्तनों दोनों का उत्कर्ष रहा। अवश्य ही बौध्द दर्शन में मुक्ति या निर्वाण की साधना या प्राधान्य था किंतु लोकजीवन प्रायः हिंदू संस्कृति से जिसमें उल्लिखित दोनों निष्ठाओं का संतुलन था, प्रभावित रहा। फलतः हम पाते हैं कि इन युगों में हिंदू मनीषा ने व्याकरण, अलंकार शास्त्र, काव्य, ललित कलाओं, अर्थशास्त्र, गणित, कोष लेखन, आदि लौकिक विद्याओं के क्षेत्रों में पर्याप्त प्रगति की। काम-सूत्र जैसे ग्रंथों का निर्माण और संगीत, नाटक आदि के साथ काम-विद्या को भगवान शिव का आविष्कार घोषित करने का साहस इस बात की साक्षी देते हैं कि उक्त युग या युगों में लौकिक विद्याएँ बड़े सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थीं। किंतु धीरे-धीरे भारत की राजनैतिक स्वतंत्रता के ह्रास के साथ-साथ और अद्वैत वेदान्त के प्रचार के साथ इस

देश में वैराग्यवाद की प्रवृत्ति बढ़ी जिसके फलस्वरूप हमारे देश के उच्चतम मस्तिष्क सामाजिक राजनैतिक उन्नति एवं लौकिक विद्याओं के प्रति बहुत कुछ उदासीन हो गए।

पिछली शताब्दी में अंग्रेजी राज्य की दृढ़ स्थापना के बाद इस देश की जनता की मनोभूमि में क्रमशः जातीय हीनताबुद्धि ने घर कर लिया। उससे पहले भी सदियों तक हिंदू जनता मुसलमान शासकों के दबाव में रही थी। मध्य युग में इसका प्रभाव यह हुआ कि हमारे देश के लोग क्रमशः अपने पुरुषार्थ में आस्था खोकर भगवान पर भरोसा रखने लगे। दिलीप का वर्णन करते हुए "रघुवंश" में कालिदास ने कहा था उसके प्रयोजन-पूर्ति के दो ही साधन थे, शास्त्रों में अंकुठित भाव से विचरण करने वाली बुद्धि और धनुष में चढ़ी हुई डोरी। मध्ययुग में हिंदू जाति ने ज्ञान के बदले भक्ति को गौरव देना सीखा। उससे पहले भी जहाँ ज्ञान के लिए गौरव था वहीं ज्ञान का अर्थ आत्मज्ञान था, न कि लौकिक विद्याएं। अंग्रेजों के राज्य-स्थापन के समय हमारे सामने जो परम्परा थी वह भक्ति-युग की देन थी। इस परम्परा में ज्ञान की जगह भक्ति पर और कर्म के बदले भगवान के प्रति आत्म-निवेदन अथवा आत्म-समर्पण पर गौरव था। स्पष्ट ही यह स्थिति इसके लिए उपयुक्त न थी कि हमारे देश के लोग ब्रिटिश राज्यसत्ता के विरुद्ध संघर्ष करें और स्वतंत्रता की छाया में पश्चिमी देशों की भाँति आगे बढ़ने का स्वप्न देखें। जिन कतिपय नेताओं ने इस प्रकार के सपने देखने शुरू किये वे प्रायः ऐसे विद्वान थे जो भारतीय परम्परा से परिचित हो चुके थे। भारतीय नव जागृति के अन्यतम सूत्रधार राजाराम मोहन राय (१७७२-१८३३) इसी कोटि के विद्वान और विचारक थे। संक्षेप में उनके तथा आगे आने वाले सुधारक नेताओं के सामने निम्न समस्याएँ थीं : (१) जन-मन से हीनता-बुद्धि को हटाकर उसमें आत्म-गौरव और आत्म-विश्वास की भावना पैदा करना (२) भक्ति और भावना के स्थान पर कर्म और ज्ञान के आदर्शों को प्रतिष्ठित करना और (३) समाज में फैली हुई अनेक खराब प्रथाओं और अंधी रूढ़ियों को विरुद्ध प्रचार एवं कानून की मदद से हटाना।

राजाराम मोहन राय और केशवचन्द्र सेन दोनों पर ईसाई धर्म का विशेष प्रभाव था। एक तरह से कहा जाय तो स्वामी दयानन्द सरस्वती पर भी ईसाई धर्म, इस्लाम का दोनों का प्रभाव पड़ा था। दयानन्द की दूसरी विशेषता जिसने विशेषतः मध्यवर्गीय जनता को प्रभावित किया, उनकी आक्रामक मनोवृत्ति थी। उन्होंने इहलौकिक, कर्मठता-प्रधान वेदकालीन सभ्यता पर बल दिया और ईसाई धर्म और इस्लाम दोनों की आलोचना करके साधारण बुद्धिजीवियों में एक प्रकार का आत्मविश्वास पैदा किया।

किंतु दयानन्द ने हिंदू धर्म और संस्कृति के अनेक तत्त्वों का बहिष्कार भी किया वे उच्चकोटि के विद्वानों को प्रभावित करने में भी सफल नहीं हुए। आगे चलकर लोकमान्य तिलक ने भी गीतोक्त कर्मयोग पर बल दिया, किंतु उन्होंने भारतीय परम्परा के किसी अंग का बहिष्कार नहीं किया। स्वामी रामकृष्ण परमहंस (१८३६-१८८६ ई०) और उनके साहसी शिष्य स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०२) ने अद्वैत वेदान्त का पुनराख्यान एवं प्रचार किया। हिंदू पुनर्जागृति के इतिहास में उक्त दोनों स्वामियों की देन इस दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने ज्ञान-प्रधान अद्वैत की लोकोपयोगी व्याख्या करते हुए उसका सिक्का स्वदेशी एवं विदेशी विचारकों के ऊपर जमा दिया। अमेरिका के विश्व-धर्म-सम्मेलन में अभूतपूर्व सफलता और प्रसिद्धि अर्जित करके स्वामी विवेकानन्द ने यह प्रमाणित कर दिया कि कम से कम अध्यात्म के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति पश्चिमी से आगे रही है। बाद में रवीन्द्र नाथ ठाकुर (१८६१-१८४१) की उदार अन्तर्राष्ट्रीयता ने भी भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष को दुनिया के सामने प्रकाशित किया।

स्वामी विवेकानन्द संन्यासी होने के साथ-साथ एक बड़े देश-भक्त भी थे, उन्होंने देशवासियों को क्रियाशील होकर आगे बढ़ने का संदेश दिया। अद्वैती होने के नाते वे संसार को मिथ्या मानते रहे होंगें, किंतु उन्होंने वेदान्त के इस पक्ष पर जोर नहीं दिया। इसके विपरीत रवीन्द्र के कवि-दर्शन में प्रकृति-जगत माया की सृष्टि न रहकर ब्रह्म की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गया। रवीन्द्र के इस दर्शन का हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के कवियों पर प्रभाव पड़ा। गीता के कर्मयोग को जीवन में उतारने वाले महात्मा गाँधी सही ही भारतीय स्वतंत्रता के संग्राम के प्रेरक और स्वतंत्र भारत के पिता समझे जाते हैं। मेरा अनुमान है कि गाँधी जी जहाँ भगवद्गीता से विशेष प्रभावित थे वहाँ वे ईसा मसीह के पर्वतवाले उपदेश से भी प्रभावित हुए थे। अपने देश में धार्मिक अन्वेषकों एवं साधुओं के रूप में प्रायः कन्दरानिवासी संयासियों का महत्त्वख्यापन होता रहा है, आज भी बहुत-से लोग हैं जो श्री अरविन्द घोष की योग-चर्चा से प्रभावित हैं। इस परम्परा के विरुद्ध गाँधी जी ने देश के सामने एक ऐसे कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ संत का आदर्श रखा जिसके जीवन का केन्द्र-बिन्दु नैतिक कर्म है। हमारे सामने गाँधी जी सब प्रकार के अन्याय-अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने वाले तेजस्वी योद्धा और धर्म-रक्षक के रूप में प्रकट हुए इस दृष्टि से उन्होंने कुछ वैसा ही कार्य किया जैसा अवतार-पुरुष राम और कृष्ण के साथ जोड़ा जाता है। इस तरह गाँधी जी ने मुख्यतः हिंदू संस्कृति के नाम पर उस कर्मठतावादी नैतिक आन्दोलन को चरम बिन्दु तक पहुँचाया जिसका प्रारंभ राजा राममोहन राय और दयानन्द के सुधारवाद के साथ

हुआ था।

हमारा देश धर्म-प्रधान और परम्परावादी रहा है। एक प्रकार से वे सारी जातियाँ और समाज जो विज्ञान के सम्पर्क से वंचित है धर्म-प्रधान होते हैं। परम्परा का आग्रह भी विज्ञान की अनुपस्थिति में ही विशेष प्रबल रहता है। बात यह है कि विज्ञान स्वभाव से ही अनुभववादी और आप्तवचन को मान्यता न देने वाला है। विज्ञान की प्रगति प्रत्यक्षगम्य परीक्षणों और स्वतंत्र चिंतन से होती है। विज्ञान जगत् में प्रायः तीन शताब्दियों तक न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का अखण्ड शासन रहा, किंतु १६०० ई० में लगभग वैज्ञानिक चिंतकों ने, प्रत्यक्ष प्रयोगों के दबाव में, न्यूटन की कतिपय मौलिक मान्यताओं का परित्याग कर दिया। यूरोप में कई शताब्दियों तक विज्ञान और धर्म में संघर्ष रहा, किन्तु अंत में विजय विज्ञान की हुई। यूरोप के अनेक स्वतंत्र विचारकों ने धर्म के विरुद्ध विज्ञान का पक्ष लिया, और इस प्रकार यूरोप की मनीषा में वैज्ञानिक मनोवृत्ति को प्रतिष्ठित किया। आधुनिक यूरोप की बहुमुखी प्रगति का श्रेय मुख्यतः विज्ञान को है। यों यह तथ्य भी उपेक्षणीय नहीं है कि यूरोपीय सभ्यता में प्लेटो और अरस्तु से लेकर आज तक आचार-दर्शन और राजनीति-दर्शन के क्षेत्रों में भी लगातार चिंतन होता आया है।

इसके विपरीत, जैसा कि हमने संकेत किया, हमारे देश की सभ्यता और संस्कृति धर्म एवं अध्यात्म-प्रधान रही है। हमारी पुनर्जागृति का आधार भी धार्मिक मान्यताओं की पुनर्व्याख्या थी। स्वतंत्रता के बाद हमारे देश में क्रमशः विज्ञान और प्रविधि का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। जनता में ऊँचे जीवन-स्तर की माँग भी तेज होती जा रही है। इस नयी माँग ने ऐसा आक्रामक रूप धारण कर लिया है कि उसके आगे नैतिक एवं धार्मिक मनोवृत्तियाँ गौण बनती जा रही है। देश की राजनीति और अर्थव्यवस्था दोनों में अवसरवादिता एवं नैतिक अराजकता पनप रही है। मुँह से लोग भले ही न मानें पर आज उनके अंतर-हृदय में परलोक और मोक्ष की विशेष चिंता नहीं रह गई है। झूठ-कपट, चोरी-डकैती, धोखाधड़ी आदि का बढ़ता हुआ साम्राज्य और आतंक इस बात का द्योतक है कि हमारे विश्वासों और मूल्यों में व्यापक विघटन हो रहा है।

हमारे परम्परावादी समाज में प्राचीन धर्मों और धर्मशास्त्रों को छोड़कर चलना कठिन है, साथ ही यह भी स्पष्ट है कि लोग पुराने विचारों को ज्यों का त्यों स्वीकार करके चल नहीं पा रहे हैं। ऐसा लगता है कि हमारा जन-मानस विभक्त या खण्डित व्यक्तित्व का शिकार बन गया है। शायद आज भी अधिकांश लोग ईश्वर और परलोक को मानते हैं, किंतु वे उन विश्वासों के अनुरूप व्यवहार नहीं कर पाते। जिन बुद्धिजीवियों से

नेतृत्व की आशा की जाती है वे खुद भी मूल्यों के विघटन और खंडित व्यक्तित्व से आक्रान्त हैं।

जैसा कि हमने कहा हमारी मनोवृत्ति परम्परावादी है। हमारे वे बुद्धिजीवी जो अपने को परम्परामुक्त समझते है, वास्तव में उतनी स्वतंत्र मनोवृत्ति वाले नहीं है। उनमें से अधिकांश प्रेरणा और मान्यताओं के लिए पश्चिम की ओर देखते हैं। कुछ बुद्धिजीवियों ने निषेधपरक मनोभाव को अपना कर उसे अपना धर्म मान लिया है। कभी-कभी लगता है कि, विचारों के क्षेत्र में, हमारे बुद्धिजीवी पश्चिम के एक या दूसरे आन्दोलन की प्रतिध्वनियाँ उत्थित करके अपने को कृतकृत्य मानने लगते हैं। यदि यूरोप का अधुनातम आंदोलन अस्तित्ववाद है और वह निषेध-परक है, तो हमारे बुद्धिजीवी अपने को अस्तित्वादी घोषित करने में सार्थकता का अनुभव करते हैं। इस प्रकार हमारे पढ़े-लिखे लोग किसी न किसी परम्परा का अनालोचित अनुकरण करने के अभ्यस्त हैं, वे प्रायः किसी न किसी तरह से शब्दप्रमाण या प्रामाणिकतावाद को लेकर चलते हैं। अभी तक उनमें जिम्मेदारी के साथ स्वतंत्र रचनात्मक चिंतन करने की मनोवृत्ति नहीं बन पायी है।

हम मानते हैं कि इस प्रकार की मनोवृत्ति देश की सांस्कृतिक प्रगति के लिए बहुत ज़रूरी है। जब हमारे बुद्धिजीवी जिम्मेदारी की भावना के साथ उस तरह का रचनात्मक चिंतन, जो देश और संस्कृति को आगे बढ़ाने वाला है, करेंगें तो क्रमशः वह नेतृत्व पैदा होगा जिसकी जनता को जरूरत है। आज के बृद्धिजीवी का प्रमुख कार्य मूल्यों का निषेध नहीं, मूल्यों का पुनर्निर्माण है। उसे देश की आत्मा में नये प्रमाणों से पुष्ट नवीन आस्थाओं का बीजारोपण करना है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात याद रखने की है। जहाँ वैज्ञानिक मनोवृत्ति एक आवश्यक और कीमती चीज है, वहाँ जीवन-मूल्यों की प्राप्ति या पुनराख्यान के लिए, विज्ञान का अवलम्बन पर्याप्त नहीं है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि हमें लाचारी के भाव से पुराने धर्मग्रंथों में अंकित मान्यताओं को स्वीकार कर लेना चाहिए। मेरा अपना विचार है कि आज हमें अपने तथा दूसरे देशों के धर्म-ग्रंथों को एक नयी नज़र से देखना होगा। हमारी मनोवृत्ति मनोवैज्ञानिक होनी चाहिए, किंतु विज्ञान की मूल्यनिरपेक्षता जीवन के क्षेत्र में ग्राह्य नहीं है। हमारी आस्था है कि मूल्य-निरूपण के क्षेत्र में भी एक प्रकार की वैज्ञानिकता या वस्तु परकता को बरता जा सकता है।

मेरा विश्वास है कि मानववाद की भूमि एक ऐसा धरातल है जहाँ मूल्यों का युगोचित, विज्ञान का अविरोधी पुनराख्यान किया जा सकता है।

भारतीय आध्यात्म की भी मानववादी व्याख्या संभव है। अपनी "द माइण्ड ऐण्ड स्पिरिट् आव् इण्डिया" पुस्तक में मैंने भारतीय संस्कृति की इस प्रकार की व्याख्या देने का प्रयत्न किया है। भारतीय दर्शन और अध्यात्म का मोक्षवादी विशेष रूप में मानववादी व्याख्या के अंतर्गत लाया जा सकता है। यह देखने की बात है कि हमारे देश में, विशेषतः जैन-बौद्ध विचारकों ने, और कुछ हद तक अद्वैत वेदान्त ने भी, मोक्ष या निर्वाण की जो व्याख्या दी है वह मानववाद के इस मौलिक सिद्धान्त के अनुकूल है कि मानव-जीवन के समस्त मूल्यों का स्रोत स्वयं मानव-प्रकृति है हमारे अनेक धर्म-दर्शनों में जीवन-मुक्ति की संभावना भी स्वीकार की गई है, यह मतव्य भी हमारी आध्यात्मिक परम्परा की मानववादी अंतःप्रेरणा को सूचित करता है।

हमारी संस्कृति की सबसे बड़ी आवश्यकता है परिपूर्ण जीवन की एक ऐसी इहलोक परक व्याख्या जिसमें गीता के नैष्कर्म्य कर्म एवं स्थित प्रज्ञता के आदर्श का अधिकतम कर्मठता से समन्वय हो। ऐसा समन्वय हम गाँधी जी के जीवन में पाते हैं। लेकिन गाँधी का जीवन मानवता का एक मात्र आदर्श नहीं हो सकता। किसी जाति के जीवन में नैतिक वीरता का अथवा नैतिक वीर जीवन का महत्त्वपूर्ण स्थान हैं, किंतु वीर जीवन के दूसरे आयाम भी हैं। उदाहरण के लिए फ्रांसीसी संस्कृति में लेखकों और विचारकों को विशेष आदर दिया जाता है वीर जीवन के विविध रूपों की परिकल्पना, चित्रण और बौद्धिक निरूपण हमारे देश की सांस्कृतिक आवश्यकता है। जन-मानस में वैज्ञानिक मनोवृत्ति को स्थापित करते हुए जातिवाद जैसी अवैज्ञानिक एवं अजनतांत्रिक प्रथाओं के उन्मूलन का हेतु बनाना हमारे बुद्धिजीवियों का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है। हर हालत में सक्षम जीवन-यात्रा के लिए यह जरूरी है कि हमारे विचारों और व्यवहार में सामंजस्य हो। खण्डित व्यक्तित्व और व्यावहारिक ढोंग की स्थिति व्यक्ति और समाज दोनों ही के जीवन के लिए हानिकारक और घातक है।

❑❑❑

(भारतीय संस्कृति की समकालीन व्याख्या विषयक संगोष्ठी में २६ मार्च १९७१ को पढ़ा गया आलेख।)

उर्दू साहित्य : समस्या और प्रवृत्तियाँ

सुश्री कुर-अ-तुल-एन-हैदर

अदब हर मुल्क और हर दौर में अपने अहद के लिए हमअस्र और जदीद रहा है। जब एक यूनानी ड्रामानिगार ने यूनान पर ईरानी हमले के मुतल्लिक एक बेहद वक्ती किस्म का ड्रामा लिखा, वह क्लासिक नहीं लिख रहा था। ईरान के शाएरों ने तातारी यल्गार और तुर्के-ग़मज़ान से और (Elezabetha) अदीबों ने नये दरयाफ्त शुदा मशरकी या जनूबी अमेरिका से चन्द अलामतें हासिल कीं। उस वक्त वह अपनी-अपनी ज़दीदियत का प्रचार कर रहे थे।

दूसरी बात यह है कि अदीब और शायर हमेशा (out sider) और बाग़ी रहा है, चाहे वह सूफी रहा हो, जो अपनी जात का रिश्ता खुदा और खुदा के बन्दों से मिलाता था, या यूरोप का कूँचा गर्द स्कालर। हर अदीब अपना स्टेटमेण्ट और अपना फ्रेम वर्क अपनी खायात और उन खायात से, जो उसके अपने वर्से में शामिल हुई और अपने समाज की इज्तमाई याद्दाश्त से हासिल कीं। इस याददाश्त में लैसानी, नस्ली और तहज़ीबी बाज़गश्त शामिल हैं।

शुमाली हिंद में पिछले ८०-६० साल से जबान के सियासी झगड़ों के बावजूद उर्दू हिंदी का इमरानी तहज़ीबी पस मंज़र तकरीबन एक सा रहा है। बहुत से मुहर्रिकात और मसायल भी मुश्तरक है। लेकिन आज के दौर में उर्दू अफ़साना चन्द मुख़तलिफ मसायल से दो-चार हैं जिनका ज़िक्र मैं करना चाहती हूँ।

मैंने अभी असरी और मुस्तकिल अलामतों और तारीखी अवामिल की तरफ इशारा किया था। जब उर्दू अफ़साना आज से दो ढाई सौ साल साल पहले दास्तान के रूप में लिखा गया, उसका माहौल हिंदुस्तानी, ज़बान बेहद मसनूई और किरदार अलिफ लैलवी और बिज़रे (Bazzare) थे। लेकिन दास्तानों में भी आज की सी (Expreissionistic symbolisom) और उस वक्त के हालात की परछाईयाँ मिल सकती हैं। मशरिक के नसरी अरब के सिलसिले में हमें यह याद रखना चाहिए कि यह सारा (Litera-

ture) कोलोनियल, अहद की देन है। जिस वक्त नई तरक्कीयाफ्ता यूरोपियन अक़वाम ने मशरिक़ पर तसल्लुत जमाना शुरू किया, यहाँ का संजीदा अदब, जवाल पज़ीर या मुन्जमिद हो चुका था।

(गो उर्दू शायरी १८ वीं सदी में ही परवान चढ़ी) नावेल, अफ़साना, मग़रिब के असर से वजूद में आया। टर्की यूरोप का एक हिस्सा था। लिहाजा वहाँ का अफ़सानवी अदब और ड्रामा भी उस ज़माने के हिंदुस्तानी अफ़साने के मुकाबले में ज्यादा तरक्की याफता है।

उर्दू शायरी का मामला मुख़तलिफ था। जिसे हम आज Modern sensibility और Awareness कहते हैं, वह उर्दू में १८ वीं सदी के मीर, सौदा, नज़ीर अकबराबादी और उनके बाद गालिब के यहाँ मिलती है। लेकिन १८५७ के बाद समाजी इसलाहात के दौर में हिंदुस्तानी जमाने का ज़ाबता विक्टोरियन इम्पीरियल अदब की हाशिया बरदार बन गई। Universities में विक्टोरियन लिटरेचर पढ़ाया गया। १६ वीं सदी के आखरी में दहाइयों में हमारे नौजवान इंग्लिस्तान को नई रूमानी और जमालियाती तहरीक से मुतस्तिर होकर लौटें।

उस ज़माने में एशिया और शुमाली अफ्रीका के नये अदीबों को एहसास हुआ कि हमारे खायती अदवी फार्म नये तक़ाजों को पूरा करने के लिए नाकाफ़ी हैं। यह अदबी अक्सर सियासी रहनुमा और मुसलहे भी थे। हर मशरिकी नौ आबादी का अदीब अपनी-अपनी मदर कन्ट्री के जदीब अदबी रुझानात से मुतासिर हुआ। जमूहरियत, कौमी आजादी और समाजी इन्साफ इस नये कोलोनियल अदब के मौजू बने। मिसाल के तौर पर अक्टूबर के इंक्लाब से क़ब्ल इंतहाई पसमांदा आज़रबाईजान और उजबेकिस्तान के अदबा, शोरा और सहाफी सेंट पीटरस वर्ग जाते और वहाँ से पहले दास्तोवास्की और बाद में लेनिन का कलमा पढ़ते हुए वापिस आते, ईरान, मिश्र, टर्की, अल्जीरिया, शाम, ईराक, इंडोचाइना, इंडोनेशिया वग़ैरह के जोशीले नौजवान पेरिस या बर्लिन या ऐमस्टर्डम की अदबी और सियासी तहरीकों में शामिल होते। मशरिक़ी वस्ता के सारे नये अदब पर फ्रांस की गहरी छाप मौजूद है।

हमारी तीर्थ यात्राएँ, लन्दन, आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज थीं। सारे कोलोनियल मशरिक के अदीबों की मानिंद हमारे लेखकों ने भी यूरोप की आज़ाद ख्याली और अक़लियत परस्ती से मुतासिर होकर यूरोपियन साम्राज्य के खिलाफ प्रोटेस्ट का अदब तखलीफ़ किया। साथ ही यूरोपियन मुस्तशरिकीन ने खुद हमारे तहज़ीबी वर्से को दुबारा दरयाफ्त करके हमारे सामने पेश किया और हमें अपनी पुरानी तहज़ीब और अदबियात पर फख्र पैदा हुआ।

मशरिक् का यह अदब जंग आज़ादी का एक हथियार रहा है। उर्दू ने भी इस नब्बे साल के अरसे में तहरीक आज़ादी और कोमी जद-ओ-जहद की तहदरत और हमार्गीर नुमाईदंगी की है। इमरनियात के मैदान में उर्दू नाविल और अफ़साना मुस्लिम, हिंदू और सिख शहरी और देहाती ज़िन्दगी का आईनादार रहा है। मग़रिब के बरअक्स हिंदुस्तान फेमिली ओरियण्टेल सोसाइटी है। हमारे बंगाली, उर्दू और हिंदी नाविल अमूमन मुशतरका खानदान के बारे में लिखे गए। हमारे इनफरादी और इजत्मादी मसायल मग़रिब से बेहद मुख़तलिफ थे।

इंग्लिस्तान में जिसकी हम नक्काली करते रहे, जदीदियत की तहरीक पहली जंगे अज़ीम से कव्ल शुरू हो चुकी थी। जंग के बाद मग़रिब की दुनियाँ बदल गई। एम्पायर में ज़ल्जला आ चुका था। मायूसी और बेयकीनी का दौर शुरू हुआ। इनक्लाबे रूस ने सियासी और समाजी इक़दार को तहोबाला करके रख दिया था। इलियट की वेस्ट लैण्ड इस अहद की उदासी और एहसासे शिकस्त की Bible है।

ज़दीदत की नई लहर के बावजूद इंग्लिश्तान, फ्रांस से दस पन्द्रह साल पीछे था। फ्रांस की तहरीकें वहाँ रमज़ियत-परस्तों के ज़माने से बासी होकर पहुँची थी। मगर हम तो इंग्लिश्तान की जदीद तहरीकों से भी बेखबर, हार्डी, शैली और गाल्स्बरदी का वजीफ़ा पढ़ने में मशगूल थे। १६२० ई० को उर्दू तनकीद में इलियेट पाउंड या गर्टरुडस्टीन वगैर का नाम कहीं भूले से भी नज़र नहीं आता। जदीद अमेरिकन नाविल निगारों से हम न आशना थे। यूँ रूसी चेखोफ़ तालस्ताय और फ्रेंच मोपासां, जोला को अपने यों ही तरजुमा पढ़ लिया करते थे। हमारा अफ़सानवी अदब भी बेहद नहीफ था।

मजे की बात यह है कि यही १६२० इंग्लिस्तान और यूरोप में सख्त गहमा-गहमी का जमाना था। अफ़साने, नाविल, शायरी, मौसीकी, थियेटर और बैले और मुसौव्वरी में नये-नये तजुरबे किये जा रहे थे। समाजी इक़दार तेजी से बदल रही थी। जेहनथपरस्त बाएँ बाजू की तहरीक शुरू हो चुकी थी। अमेरिका कग जिला-वतन अदीब पेरिस में जमा थे। बाल्शविकरूस का एक नया तजरवा था, जिसे टैगोर, इकबाल, प्रेमचन्द, बस सराह रहे थे।

हसब मामूल हिंदुस्तानी नौजवान मदर कन्ट्री इंग्लिस्तान में तालीम हासिल करने में मसरुफ थे, उन नौजवानों में मुल्कराज आनन्द, सज्जाद ज़हीर, मोहमूद उज़ ज़फ़र और अहमद अली शामिल थे। उस वक्त सज्जाद ज़हीर ने एक नावेल 'लन्दन की एक रात' लिखा जो शायद १६३२ में शाया हुआ। इस नावेल को उर्दू अफसाने का एक नया मोड़ समझना चाहिए। चंद

साल बाद इन नौजवानों ने अफसानों का अंगारे शाया किया। जो गोया नई ज़हनी बगावत का मैनीफेस्टो था। खवातीन अब्दुल हलीम हरर के ज़माने से उर्दू में नावेल लिख रही हैं। तकनीक के इतवार से उनकी कमजोरियाँ वहीं थी जो इनसे ज्यादा पढ़े-लिखे मर्दों के नाविलों में मिलती है लेकिन ह्युमन कन्डीशन और इंसानी रिश्तेदारियों के सिलसिले में उनका मुशाहदा और Sensibility ज्यादा गहरी थी। यह इस्लामी अदब का दौर था और Male chanvinism का भी (जो उस वक्त आज से भी ज्यादा शिद्दत से मौजूद थी) और अपनी पाबन्दियों के बावजूद ख्वातीन ने इस्लामी रुमानी नावेल लिखकर उर्दू में एक तरह का Woman liberation शुरू किया। ख्वातीन ने नये रुजहानात का साथ भी उसी खलूस से दिया। डॉ० रशीद जहाँ अंगारे के मुसन्नफीन में से एक थीं उनके बाद इसमत चुगताई मैदान में आई। जिनके क़लम ने बड़े-बड़े जुगादरियों के छक्के छुड़ा दिए। अंगारे एक ऐलानेजंग था। उसकी इशाखत के बाद ही तरक्की पसन्द तहरीक शुरू हुई जिसके मुफस्सलनतज़किरे की जहाँ ज़रूरत नहीं है। आजादी के बाद यह तहरीर पहले बेहद Sectaria बनी फिर कमजोर पड़ती गई। इसके बाद 'पुरानी और नई' नस्ल का किस्सा शुरू हुआ।

मग़रबी तहरीकें हमारे यहाँ हमेशा बहुत देर से पहुँचती हैं। बरतानियाँ के ऐंन्ग्रीयंग मेन ने १६५० के शुरू में उधम मचाई थी। अब उनके वसीले से यहाँ establishment, commitment, nonconfermisim बगैरह का चर्चा शुरू हुआ। सत्रि औरं कामयु वगैरह का जोर शोर से तसकिरा होने लगा। मायूसी, वे यकीनी, उदासी, तनहाई, वगैरह अफसाने के नये मौजू बने।

उर्दू और हिंदी में यह नये रुजाहानात जरा आगे पीछे आये हैं। उर्दू नया अफसाना अब ३०-३५ साल पुराना हो चुका है। तकनीक के नये-नये तजुरबे १६४० के अव्वलीन सालों में ही किये जा चुके थे। हिंदी में नई कहानी, अकहानी और नई पीढ़ी का हंगामा १६५० और १६६० में शुरू हुआ। लेकिन उर्दू की नई नस्ल और हिंदी की नयी पीढ़ी गालिबन हमज़बान है। हिंदी की तरह यहाँ भी आपस के एख़तलाफ़ात और गिरोह बेदियो का ज़ोर है।

लेकिन मौजू और रुजहान की इकसानियत के बावजूद उर्द अदीब इस वक्त एक नई सूरत-हाल से दो चार हैं। १६४७ के बाद उर्दू रिसालों की तादाद कम होती गई। उर्दू का सबसे बड़ा एशाअती मरकज़ लाहौर था जो पाकिस्तान में शामिल हो गया। हिंदुस्तान में उर्दू पब्लिशिंग हाउस बन्द होते गए। बहुत से कुतुबख़ानों ने उर्दू किताबें खरीदनी बन्द कर दीं। संजीदा अदब की तसनीफ एशाअत बेहद महदूद हो गई। १६६५ तक उर्दू

अदीब ज्यादातर पाकिस्तानी रिसालों में लिखते थे। इधर चन्द साल से कुछ रिसालें यहाँ भी निकलने शुरू हुए हैं मगर उनकी तादाद इशाअत बेहद कलील है। किताबों की रायल्टी मिलने का सवाल ही पैदा नहीं होता। धड़ल्ले से दोनों मुल्कों में चोर पब्लिशर्स मशहूर मुसन्निफो की किताबें शाया कर रहे हैं और मुसन्निफ की सुनवाई कहीं नहीं है। जो किताबें एक आध नाशिर बाजाबता शाया करता है, उसका एक हज़ार का एडीशन तीन साल में निकल पाता है। मुझे बताया गया है कि साहित्य एकेडेमी अवार्ड कमेटी के लिए चन्द अदीबों ने अपनी किताबें खुद अपने खर्च से छपवाकर पेश की। हिंदी में तिजारती और गैर तिजारती कहानी की तफरीक है। उर्दू में इस वक्त तिजारती कहानी की गुंजाइश ही नहीं है, सिर्फ उन कहानियों को तिजारती कहा जा सकता है जो एक-दो मकबूल फिल्मी रिसालों में छपती हैं। उर्दू अदीब अब सिर्फ हिंदी में तर्जुमा होकर पैसे कमा सकता है। कृष्ण चन्दर और बेदी के अफसाने अब ज्यादातर हिंदी ही तर्जुमा होकर शाया होते हैं।

अदब अपने अहद् के मुआशी, समाजी और ज़ेहनी कैफियत का अवकाश होता है। नये उर्दू अफसाना निगार के पढ़ने वाले घटते जा रहे हैं। नया उर्दू अदीब जिन खालिस अदबी रिसालों में लिख रहा है, उनकी तादाद एशाअत चन्द सौ या हद से हद तीन हजार से ज्यादा नहीं है। इनमें से भी अक्सर रिसालें शहीद माली नुक़सान उठाकर बन्द हो जाते हैं।

उर्दू अदीब यक़ीनन दूसरी ज़बानों या नागरी रसमु लावत में लिखकर शाया हो सकता है। लेकिन उर्दू का अपना मिज़ाज अपनी शख्सियत अपना मुहावरा और अपना तहजीवी ज़ैहनी फ्रेम वर्क है। किसी दूसरी ज़बान या रसमुल्खत में मुन्तविल होकर उर्दू अफ़साना या नाबिल बाक़ी नहीं रहता, सिर्फ तर्जुमा रह जाता है।

चन्द अदीबों को रूस की रीडरशिप मिल गई है। मगर वह भी जाहिर है कि एक दूसरी ज़बान के तर्जुमें के जरिए। अमेरिका की चन्द Universities में उर्दू पढ़ाई जा रही है और एक आध अफ़साना किसी अमेरिकी मजमुए में शामिल कर लिया जाता है तो हमारे अदीब लोग बहुत खुश हो जाते हैं।

इस वक्त उर्दू की इस मुख्तसरसी रीडरशिप और अफ़साना निगारों और नक्कादों के माबैन बेहद फलसफियाना और माबादुत कतबेयाती किस्म की गुफतगू, ईव्हाम और Communication वगैरह के मसाएक पर की जा रही है। मेरी समझ में यह नहीं आता कि जब पढ़ने वाले ही नहीं रहेंगे तो आप कम्युनिकेट क्या जेम्स वाएज़ की रूह से करेंगें ?

आजकल नये अफसाने में तजरीद, एलामत पसन्दी, अन्दरुनी,

कर्ब, तन्हाई वगैरा वगैरा का बहुत जोर है। कहा ये जाता है कि मग़रिब का अदीब भी यही सब लिख रहा है लेकिन अपना मुकाबला मग़रिब या जापान से न जाने किस तरह करते हैं। वहाँ कीं तनहाई, वहाँ की मौत और morbidity और समानी और इंसानी रिश्ते मुख़्तलिफ हैं। उनके दौलत मंद और टेक्नालाजिकल समाज की तनहाई या न्युकिलियर ख़ातिम की दहशत या परमिसिव सोसाइटी के जज़बाती मसायल और हमारे मसायल एक सां नहीं हैं। इस मग़रिबी तन्हाई को खरीदने के लिए वहाँ Multy billion doller पब्लिशिंग इंडस्ट्री मौजूद है। अदब Multy media age का एक हिस्सा है। सौ फीसदी तालीम है। हमारे यहाँ तालीम २० फीसदी हो पायी हैं इस २० फीसदी में कितने लोग उर्दू का नया अफसाना पढ़ रहे हैं या फर्द की तन्हाई के मा बादुत तबैयाती मसले से दिलचस्पी रखते हैं ?

जहाँ तक मैं समझती हूँ नये उर्दू अफसाने के मसले को उर्दू के मसले से अलग नहीं किया जा सकता।

❑❑❑

समकालीन हिंदी-उर्दू-कथा साहित्य की समानान्तर 'प्रवृत्तियाँ विषय पर मार्च, १६७२ में एकेडेमी द्वारा आयोजित संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख।

उर्दू-हिंदी-कहानी
मुशतरफा रुजहानात और मसायल

श्री रामलाल

यह बात कुछ अजीब सी ही लगती है कि हम जब कभी जदीद उर्दू कहानी पर गुफ़तगू करने बैठते हैं तो उसे प्रेमचन्द से ही शुरू करते हैं, बल्कि प्रेमचन्द के भी आखिरी दौर से जब उन्होंने कफन, पूस की रात, और शतरंज के खिलाड़ी कहानियाँ लिखी थी, शायद जदीद हिंद कहानी भी इन्हीं कहानियों से शुरू होती हैं लेकिन जिन अदीबों ने अपने तरजुमों से और मग़रिबी कहानियों के Adoptation से या खुद अपने ही तखलीक किये हुए रूमानी अफसानों से, जदीद अफसाना निगारी की बुनियाद के लिए खाद का काम किया, उन्हें हम अक्सर भूल जाते हैं। मिसाल के तौर पर उर्दू में डिप्टी नज़ीर अहमद, नियाज़ फ़तेहपुरी, सज्जाद हैदर, यलदरम, अब्दुल हलीम शरर, सुल्तान हैदर और सुदर्शन ने जमीन हमवार न की होती तो शायद जदीद उर्दू कहानी आज २५, ३० साल पीछे ही होती। लेकिन किसी-किसी ज़बान में अचानक ऐसा वक्त भी आ जाता है जिसमें लिखने वाले अगरचे वाजह तौर पर तीसरे दर्जे के रूमानी और जज़बाती नजर आते हैं, लेकिन उसी ज़बान के आकाश पर देखते ही देखते एक कहकशासी नमुदार हो जाती है। ज़ाहिर है कि सितारे रात के अंधेरे मे ही ज्यादा चमकीले नजर आ सकते हैं। यहाँ मैं रात को जेहन के अंधेरे की अलामत के तौर पर इस्तेमाल कर रहा हूँ। १६२० ई० से सन् १६४० तक हिंदुस्तान के लिए एक तालीमी इंक्लाब का जमाना था। जिसमें सियासी, समाजी, तालामी सहाफती और अदबी सतह पर कई Gaints उभरकर सामने आ गये थे। उस हंगामी दौर में जहाँ एक तरफ आज़ादी के लिए आन्दोलन चल रहा था, वहीं दूसरी तरफ कई दूसरे बन्धन भी काटे जा रहे थे, जिनका बहुत गहरा ताल्लुक हमारे समाज से था, या समाज की लादी हुई जुम्ला ख्यलात से था।

अदब का समाज के साथ बहुत गहरा रिश्ता होता है। समाज की हक़ीकी तस्वीर हम अपने अदब के ही आइने में बखूबी देख सकते हैं।

जिस समाज ने हमें यकबयक बोलने की आज़ादी दे दी थी, इज़हार की कूबत दे दी थी और सहाफ़त में तरक्की की वजह से बैरूनी दुनियाँ के सारे गौर और फिक्र के बन्द दरवाजे इस दौर के अदीबों पर भी खोल दिये थे, उन खुले दरवाजों में से रोशनी का एक टाटें मारता हुआ सैलाब सा जहनों में घुस पड़ा था। अंगारे गुरुप के जुम्बा अदीब, सज्जाद जहीर, रेसीद जहाँ, महमूद अलजफ़र वगैरह और बाद के कृशन चन्दर और राजेन्द्र सिह बेदी, सआदत हुसेन, इसमत चुग़ताई, हैयातुल्ला अंसारी, अली अब्बास हुसैनी, उपेन्द्रनाथ अश्क, अख्तर अंसारी, अहमद नदीम कासमी, सुहैल अज़ीम आबादी, मुहम्मद हसन अस्करी वगैरह सिर्फ दस-बारह साल के ही अरसे में सामने आ गए थे। यह लोग अपने पेश रवों की मानिंद सेन्टीमेटल थर्ड रेटर नहीं थे। अगरचे वह भी थे तो सेन्टीमेंटल ही। लेकिन उनके यहाँ बावस्तगी और ज़जबातीयत के भी नये-नये प्लेटीच्यूट्स थे। साथ-साथ उनके यहाँ एक किस्म के हकीकत पसन्द भी थी। सेक्स के बारे में मरीजाना व सेहत मंद दोनों तरह के रवैये भी थे। उनमें कुछ तो तरक्की पसन्द थे, कुछ अदब, बराय अदब के हामी। लेकिन दोनों ही गिरोह जदीद समझे जाते थे। पुरानी क़दरों और फ़रसूदा तसउव्रात को मिसमार होता देखकर वो सब के सब शरीफ़ शैतानों की सी मुसर्रत और इत्मीनान महसूस करते थे। उर्दू अफ़सानों के कार्रईन लगभग उसी जमाने में हिंदी के जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अमृतलाल नागर वगैरह के नामों से भी आश्ना हुए थे, जिनकी रचनाएँ हिंदी से उर्दू में मुन्तकिल होने लगी थी। यशपाल का रसाला "विपलव" उर्दू में "बागी" के नाम से बरसों तक बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ा जाता रहा। दोनों जबानों के अदीब, अदब बराये जिन्दगी और अदब बराये अदब की मजलिसी बहसों में अक्सर इकट्ठे होते जाते। एक गिरोह अपने सयासी अकीदों को अदब से अलग रखकर नहीं सोचना चाहता था क्योंकि वह खुद को समाज और ज़िन्दगी के सामने जिम्मेदार समझता था। अपने अदब को वह आजादी और इंक्लाब के लिए पूरी वफ़ादारी से इक्सपलायट करना चाहता था, दूसरा गिरोह इस किस्म को सयासी वफादारी को कबूल करने से यकसर इंकार करता था। वह समझता था ऐसी वफादारी हमें तस्लीम शुदा आरा (Accepted opinions) के साथ नत्थी कर देती है और यह वफ़ादारी उन लोगों से भी हमदर्दी रखने से बाज रखती है जो सचमुच तखलीकी सतह पर भी बग़ावत करने के हामी होते हैं। खालिस तख़लीकी सतह पर सोचने वाले सयासी नज़रियात के बैतोल्लुकी बरतने के लिए इसलिए जोर देते थे कि उससे तखलीकी ज़ेहन में नये-तजुरबे करने के लिए अबारगी करने का हौसला मिलता है। नीज तख़लीकी अदब में इंसानी हमदर्दी का एक नया

बोद भी (Dimension) हासिल होता है।

उर्दू अफ़सानों में फिक्र और अमल की यह जदीद लहर, १६४० ई० के बाद भी उसी तेज़ी से चली और कई नये लिखने वाले मसलन बलवन्त सिंह, रज़िया सज्जात जहीर, कुर-अ-तुल ऐन-हैदर, इंतजार हुसेन, शौकत सिद्दकी, अशफाक अहमद, आग़ा बाबर भी सामने आ गए। किसी एक जवान में इतने सारे अच्छा लिखने वाले १५-१६ साल के अरसे में पहले कभी नहीं उभरे थे। मैं समझता हूँ कि उर्दू अफसाने की कामयाबी में उसकी ज़बान की तवानाई, दूसरी तरक्की याफ्ता ज़बानों के अफकार और मुनासिब अलफाज को अपने अंदर समो लेने की कुशादगी और सहूलियत और खुद उर्दू के जदीद तरीन ज़बान होने का भी बड़ा हाथ रहा था। यहाँ मैं उन सब अफ़साना निगारों की बहुत अच्छी तख़लीकात का जिक्र करूँ तो शायद बात बहुत लम्बी हो सकती है। फिर भी जिन्दगी के, मोड़ पर अन्नदाता, गरहन, दानों दाम, टूबाटेक सिंह, नया कानून, हतक, बाँझ, हिंदुस्तान छोड़ दो, बिच्छू हो भी, शिकस्ता, कंगूरे, जुराबों का कारखाना, मैला घूसनी, लाठी पूजा, तुलू अचैर गुरुब, मेजन रफीक मारा गया। दूसरी मौत, आनन्दी ओवर कोट, जग्गा पतझड़ की आवाज, लन्दन लेटर, हमसफर, सरगम की मौत, गडेरियां, तवाजुन वगैरह कहानियों के नाम एक ही सांस में तो लिए ही जा सकते हैं। उर्दू की कारइन इनसे पूरी तरह बाखबर होंगें। हिंदी के पाठकों ने भी आजादी के बाद ४-५ साल के अंदर कमोवेश इन सब कहानीकारों की कहानियाँ पढ़ ली होगी। जिस तरह उर्दू वालों के नज़दीक भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय, रांगेय राघव, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय, मारकण्डेय वगैरह हिंदी कहानीकारों के नाम अजनबी नहीं रह गए थे। लेकिन आज़ादी के फौरन बाद का ज़माना एक अजीब सी, उदासी, अफसुरदगी और ठहराव का ज़माना था। उर्दू और हिंदी दोनों जबानों के जदीद अदब के लिए यही ज़माना बेहद अहद रहा है। क्योंकि आजादी मिली है तो लुटी-लुटी सी, खुशी और आँसुओं दोनों से ही हम कनार जिन आदर्शों को सामने रखकर आज़ादी के लिए जुद्दों जेहद की गई थी और इंक्लाब के सपने देखे गए थे, उस मंजिल के करीब पहुँचकर अचानक यह एहसास होने लगता है कि सब से बड़ी लड़ाई तो अभी लड़नी होगी। इक्तेसादी और सियासी सतह से अलग भी एक ऐसी जद्दों-जेहद मौजूद है जो इंसान को अपनी जात को दरियाफ़्त करने के लिए करनी पड़ेगी। अब इंसान एक नये किस्म के (Problem) से दो चार हो रहा है, वह है उसके आजाद और जिन्दा रहने का इमोशनल प्रॉब्लम।

यह १६५० के बाद का ज़माना है। कृष्णचन्द्र फसादात के बारे में

कई अफसाने लिख चुकने के बाद अवाम की हक़ीकी गरीबी के पीछे छिपे हुए बड़े-बड़े सियासी शरमादारों के हाथों को एक्सपोज़ कर रहा है। मिण्टो टोबाटेकसिंह जैसे पागल के वजूद में खुद को मुदेगम करके छोटे-छोटे बेहद witty विटी लेकिन रुह तक उतर जाने वाले लतीफे (सियाह हाशिये) सुनाने की धुन सवार हैं बेदी, लाजवंती और अपने दुःख मुझे दे दो के अफाक़ी ग़म में शरीक होकर सच्चे फन्कार का करब महसूस कर रहा है और मुतमईन सा नज़र आता है। अशफ़ाक अपने कस्बों से अपने एक हिंदू टीचर को तर्के वतन कर जाने पर गड़ेरियाँ जैसा अलमिया लिखता है। शौकत सिद्दीकी अपने खाबों की सर ज़मीन पर पहुँच कर भी इल्म और आर्ट और दूसरे तसुब्बरात का खून होते देखता है तो सरगम की मौत और समझौता जैसी कहानियों की तखलीफ करता है और फिर उसके बाद मज़ीद कुछ नहीं लिख पाता। जैसे अचानक कहीं से सन्नाटा आ गया है। कहीं से इन्तशार स्मगल होकर आ गया है और हर तरफ फैल गया है। बज़ाहिर कुछ भी हलचल नहीं है लेकिन एक बेचैनी सी यकीनन है। एक इस्तराब सा जरूर हैं उसे जमाने के कर्ब को मैं बखूबी जानता हूँ। उस वक्त मैं भी इन्हीं साथियों के साथ था। हम सब प्रेमचन्द्र के आदर्शवाद, आज़ादी से पहले के लगाये हुए सियासी नारों, सेक्स के बारे में लिखी हुई बचकाना पहेलियों और तहलीले नफ्सी (Stream of consiousness) की भूल भुलैयों से ऊब चुके थे। ग्यास अहमद गद्दी, जीलानी बानों काज़ी अब्दस्सत्तार, रामलाल, इकबाल मतीन, सतीश बत्तरा, जोगेन्द्र पाल, इक़बाल मजीद, बाजदा, तबस्सुम, अनवर अज़ीम, कुर-अ-तुल ऐन हैदर (जो पहले से लिख रही थीं), नीम गुमानी, नीम जिन्सी और मरिज़ाना (Morbid) क़िस्म की नफ़सियाती फ़िजा से हटकर ही कुछ सोचने लगे थे।

फिकशन को A paradise of loose ends कहा जाता है यानी ऐसी सिन्फे अदब जिसकी कोई चार दीवारी नहीं होती। लेकिन इसके बावजूद वो फन के एक मकसूस दायरे के अंदर ही मुकईयद होती है और उसकी अपनी एक पहचान (Identity) भी होती है। यों लोग गज़शता १५-२० साल से लिख रहे थे, उनमें से वेश्तर को हैरतनाक तौर पर शुहरत मिल गई थी। वह अब लिखना बंद भी कर देते तब भी उन्हें अपने मुकाम से कोई हटा नहीं सकता था उनमें से कई एक ने अच्छा लिखना बंद कर दिया वह खुद को महज़ दोहराने ही लगे। तब भी उनकी अहमियत कम नहीं हो सकी। कृष्णचन्दर, वेदी ओर कुर-अ-तुल ऐन हैदर का अदबी सफर जारी रहा। बाद में आने वाले लोग यानी बीच की पीढ़ी वाले इस बात से कान्शेस हो गये कि वे अपनी पहचान किस अन्दाज से दे पायेंगे लेकिन यह सब के सब बहुत अच्छे लोग थे वह अब भी वैसे ही

अच्छे और नेक हैं क्योंकि उन्होंने खुद को मनवाने के लिए कभी कोई हंगामा खड़ा नहीं किया, उन्हें अपनी कुवतेफिक्र पर कामिल एत्माद था। जिस-जिस किस्म की नई कहानी की उन्हें तलाश थी वह उन्हें थोड़ी सी कोशिश करने पर मिल जाती थी। कुर-अ-तुल ऐन हैदर ने उसी जमाने में सीता हरन, हाउसिंग सोसाइटी जैसे तवील अफसाने और नाविलेट लिखे। उनकी कहानियों में बार-बार एक तालीम याफ्ता Intellectual मगर अफर्सुदा लड़की का किरदार मिलता है जो देश_विदेश में जैहनी सुकून की तलाश में भटकती फिरती है। उन्होंने जागीरदारी निज़ाम के मिट जाने के अल्मिये भी लिखे हैं जो निरी ज़जबातियत से ही आलूदा नहीं है उनमें एक (Intellectual flavour) मिल जाती है। काजी अब्दुस्सत्तार ने भी कुर-अ-तुल ऐन हैदर की तरह जागीरदारी निजाम की शानो शौकत और दबदबा खत्म हो जाने के नौहे पेश किए हैं। मसलन पीतल का घण्टा, बादल, शब गज़ीदा वगैरह लेकिन इनमें (Intellectual flavour) से कहीं ज्यादा ज़ज़बाती खुशबू का ही ऐहसास होता है। जीलानी बानू ने रोशनी के मीनार, सत्यवान सावित्री, निरवान और जुगनू और सितारे जैसे मुखतसर ओ तबील कहानियां लिखीं। उनके यहाँ हैदराबाद के मोतवस्सित घरानों के अलावा आम हिंदुस्तानी औरत के सोचने और समझने का एक नया एहसास भी मिलता है जो बाज़दा तबस्सुम की तरह बेबाक और जिन्सज़दा नहीं है। जुगनू और सितारे हैदराबाद के पुलिस ऐक्सन पर एक खूबसूरत नावेलेट है एक बात मतीन के ग्रेवयार्ड जैसी अज़ीम रुमानी कहानी के अलावा हैदराबाद के नवाबी दौर की भी बड़ी कामियाब झलकियाँ हैं। रामलाल के यहाँ रिफ्यूजी खानदानों की आबादकारी के मसायल (नई धरती, पुराने गीत, एक शहरी पाकिस्तान का, नसीब अली) के अलावा रेलवे माहौल की कामियाब (ओ० सी० वगैरह) भी मिलती हैं सतीश बतरा के यहाँ ऊँचे तबके का ठाट-बाट वाला माहौल एक अजीब से इन्तेशार के साथ मुनअकिस होता है, जैसे उस तबके की जड़े कहीं नहीं है। यह सब कहानियाँ अपने मौजूआत ट्रीटमेण्ट और ऐहसास की बिना पर अपने पेशरव की कहानियों से अलग भी नजर आती हैं और मुमताज भी। उनकी कहानियों के बारे में अगर ज्यादा शोर बरपा नहीं हुआ तो उसकी बड़ी वजह वही है कि उन्होंने खुद को मनवाने के लिए अदबी प्लेटफार्मों पर हंगामे नहीं किए। उनके जमाने में तरक्की पसन्द तहरीक कमजोर पड़ती गई और किसी नये रूजहान के पनपने और उभरने में कुछ देर लग गई। अल्लाह के इन नेक और शरीफ बन्दों के हिंदी में हमअसर अदीब मेरे ख्याल में धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, कमलेश्वर, फणीश्वररेणु, अमरकान्त, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा वगैरह है। हिंदी के अदबी अखाड़ों की खबरे उर्दू

के अदीबों तक भी पहुँचती रही हैं। उर्दू के अदीबों को इस बात का भी ऐहसास है कि इसी जमाने में हिंदी कहानी ने बहुत तेजी से तरक्की की मंजिलें तय की हैं। उर्दू (रिसालो में हिंदी की कहानियाँ वक्तन फुरक्तन शाया होती रही है) लखनऊ के महानामा किताब ने तो ठाकुरप्रसाद सिंह की आबिद सुहत्त की और मेरी कोशिशों से जदीद हिंदी कहानी का एक खास नम्बर भी शाया किया था। जिसे बहुतों को यह अन्दाजा हुआ कि हिंदी कहानी उर्दू कहानी से निकल रही है। अगर ऐसा वाक़ई हुआ तो इस पर उर्दू वाले भी फख्र कर सकते हैं। अगर मैं किसी भ्रम में मुबतला नहीं हूँ तो कहूँगा कि उर्दू के ही कुछ अच्छे अदीबों ने (कृष्ण, वेदी, मन्टू) हिंदी में भी अपनी एक पूरी नस्ल पैदा कर दी है। उनके असरात कई नौजवान हिंदी कहानीकार यहाँ तलाश किए जा सकते हैं।

आज़ादी के बाद हिंदी में कहानी की तरक्की और मकबूलियत ने नये-नये लिखने वालों की एक खासी भीड़ लगा दी है। लेकिन अभी उर्दू को रवीन्द्र कालिया, काशीनाथ, कामतानाथ, ममता कालिया, हृदयेश, दूधनाथ सिंह, शत्रुघन लाल, सुदीप, शतीश जमाली, बदिउज़ ज़मा, मेहरुनिस्सां परवेज, सुरेश चतुर्वेदी, रंजीत वगैरह बहुत से नये लिखने वालों से रूसनासे होना हैं इसी तरह हिंदी वालों के सामने भी उर्दू के कई नये कहानीकारों को अभी पेश करना है।

क़रीब-क़रीब हर बड़े शहर में इन दोनों ज़वानों के अदीब एक दूसरे के बहुत करीब हैं। वे एक ही किस्म के काफी हाउसों और रेस्ट्रानों में जाते हैं, एक ही टेबुल पर बैठकर अपने-अपने मसायल हल करते हैं और इस तरह एक दूसरे के रवाइयों से भी बराहरास्त मुतास्सिर होते हैं। यों भी अलग-अलग ज़बाने बोलने वाले समाजी और मुआशी तौर पर एक दूसरे से बहुत ज्यादा दूर नहीं होते हैं। वह एक ही दफ्तर में काम करते हों, एक ही वक्त पर छुट्टी पाते हों साथ-साथ ही बस की कतारों में खड़े होकर बस का इन्तजार करते हों तो उनके मसायल अलग-अलग क्योंकर हो सकते हैं। उर्दू के नये अदीबों में हिंदी के नये लेखकों की तरह कुछ एक हाई ब्राउज़ आ गये हैं, जो खुद को Experimentalist कहते हैं ख्यालात में भी और तकनीक के भी मामले में। अगर वाकई वह ऐसा कर भी सकते, तो यह बात अदब के लिए नेक फाल होती। कुछ एक के यहाँ ऐसे तजुरुबे सिर्फ फैशन की ही हद तक मिलते हैं। उनमें ठाट कन्टेन्ट बिल्कुल नहीं मिलता। या मिलता है तो इस कदर मोहमल की क़ोई मुफीद मतलब बात निकलना मुश्किल हो जाता है। बल्कि एहसास यह होता है कि वह कहानी नहीं लिख रहे हैं जदीदियत के नाम पर महज़ ब्लफ कर रहे हैं। तेकनीक, इज़हार, रवैया और फिवर के नाम पर वे कोई वाजेह शह

नहीं दे पा रहे हैं। महज़ मशहूर होने के लिए ही इस किस्म का अदबी पोज़ बनाकर आ गए हैं।

एक जदीद अदीब की सही पहिचान यह है कि वह अपने अहद की सही अवकासी करें। उसके इर्द–गिर्द जो इन्तशार है सामने जो अंधेरा है उसके असबाब और किरदारों पर पड़ने वाले नफ्सयाती अमल के निशान देही करें। इसके बरअक्स व अपनी तकलीफ को ही उलझा हुआ क्यों पेश करता है ? उसका मुआशरा अगर बेहिसी और लातआल्लुकी में मुबल्ला है और उसे बे हिसी (detachment) को वो एक फिकरी और फन्नी शाहकार बनाकर पेश भी करे। जिन्दगी का मसला अगर सिर्फ रोटी, रोजी, तक ही महदूकद होता तो उसे हल करना इतना मुश्किल न होता। असल मसला उसे फ़ल सफ़याना और पेचीदा रबइयों का है। इंसान वयकवक्त नरम दिल भी है और पत्थर दिल भी मुहब्बत का भूखा भी नफरत का खूगर भी बेहद सीधा सादा भी है और इन्तहायीं मक्कार भी है। लेकिन यह तो दूसरों को देखकर बहुत आसानी से मालुम हो जाता है जो इंसान खुद अपने आपको समझने की ख्वाहिश रखता है, हैरत है कि वह भी अपने ही ज़हनी कारखाने के सारे कलपुरजों को जानने में नाकाम रह जाता है। यहीं से हमारे रवैये बनते हैं। यहीं से हमारे मुहब्बत के सोते फूटते और नफ़रत के साँप फन उठाकर फुंफकारते हैं।

जदीद से जदीद तकके सफ़र में कुछ लोगों ने वाकई कुछ कामयाबी हासिल की है। उनमें सरेफे हरिस्त जोगिन्दर पाल हैं। उनका जो सफर अफ्रीका की धरती से शुरू हुआ था वह भी जदीद रुजहानस का हासिल था। इधर उसने दो बहुत अच्छी कहानियाँ दी हैं, 'बाज़याफ्त' और 'रसोई'। लेकिन उनके यहाँ भी अब दुहराने का अमल कसरत में शुरू हो गया है। बलराज मैनरा भी सिर्फ दो ही बहुत अच्छी अलामती कहानियाँ 'माचिस और रेप' दे सका है। सुरेन्द्र प्रकाश की विदूशक की मौत और रोने की आवाज जैसी कहानियाँ बहुत अरसे तक याद की जायेंगी। रोने की आवाज कहानी जब हिंदी में सारिका में छपी तो कमलेश्वर ने उसे हिंदी की उपलब्धि (हासिल) करार दिया। उर्दू की कहानी को हिंदी की कहानी क़रार देकर उसकी तारीफ करने में कोई बुराई नजर नहीं आती। लेकिन हिंदी जबान पर यह भी लाजिम आता है कि वह भारत की सभी जबानों का वजूद बरकरार रखते हुए उनकी कहानियों को भारती या हिंदी कहानियाँ करार दिया करें। जिस तरह रूस की मुख्तलिफ जबानों की कहानियाँ हम रूसी कहानियाँ ही समझ कर पढ़ते और इन्जवाय करते हैं। अपने मजमून में नेमिचन्द्र जैन ने हिंदी की नई कहानियों के बारे में कहा है कि वह औरत और मर्द के बाहमी रिश्ते पर ज्यादा और बड़ी जुरअत

से बल देने लगी है। मुमकिन है हिंदी के नये लिखने वालों में सेक्स की आजादी ने पहली मर्तबा अब आकर करवट ली हो। लेकिन उर्दू में यह सिलसिला पूरो हकीकत पसन्दाना और ह्यूमेन नुक्ते नजर से पिछले ३० वर्षो से चल रहा है। उर्दू में नये लिखने वालों के सामने यह मौजूं और Obsession बनकर कभी नहीं उभरा है। अगर कोई एहसास वाकई Obsession बनकर उभरा है तो वह है अलायत और इसत आर ए का इस्तेमाल। नये लिखनेवालों में तो यह एहसास एक आंधी की तरह 'आ गया है। इस सिलसिले में जफर ओगान्वी, इकराम बाग, रशीद अमजद, कमर हसन, शफ़ी मशहदी, शौकत हैयात, युसुफ अहमद, भीम, नदीम, फैयाज रफअत, अनवर सज्जाद। ख़ाल्दा असग़र खुलीलमामून, मोहन लाल, बगैरा काबिले जिक्र है। उर्दू कहानी में यह रुजहान जदीद नज्म की वजह से आया है। अलामती और इस्तेआराती नज्में उर्दू में न-म-राशिद और मीराजी के ही जमाने से मकबूल लिखे हैं कि हमारे जदीद उर्दू अफसाने के लिए नये उम्मीदवार इस फ़रेब में मुबत्था हो गये हैं कि अगर वह ऐसी कहानियाँ नहीं लिखेंगे तो नकाद उनका जिक्र कभी नहीं करेंगें।

उर्दू कहानी में तनकीद का मसला हौसवलाशिकन रहा है। शायरी पर बात बहुत ज्यादा हुई है, कहानी पर बहुत की कम। अगरचे उर्दू की तीसरी दहाई के कहानीकारों ने अपने साथ-साथ ही कुछ नक्काद पैदा कर लिए थे, जिनमें सैयद एहतेशाम हुसेन, आले अहमद सुरूर और बेकार अज़ीम काबिले जिक्र हैं जिनके हिंदी में हम असर रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, नामवर सिंह वगैरह थे। उनके बाद दो ही नाम ऐसे उभरते हैं जिन्होंने अफसाने पर तनकीद के लिए एक मैदान बनाया है : डॉ० मुहम्मद हसन और डॉ० बज़ीर आगा। उन्होंने वाकई अपने अहद की कहानी को उसके पूरे पस मंज़र में देखने समझने और समझाने की काबिले तारीफ कोशिश की है। इनके अलावा जिन नक्कारों ने कभी-कभी ज्यादा बदलने के लिए अफसारने की तनकीब पर तबह आजमाई की है उनमें डॉ० गोपीचन्द्र नारंग, डॉ० कमर रईस, मोहमूद हाशमी, शमसुर रहमान, फारुकी, शरीफ अहमद, सैयद निसार मुस्तफा के नाम लिए जा सकते हैं। लेकिन उर्दू कहानी की मौजूदा मंज़िल तक पहुँचते यह बात बिल्कुल वाज़ाह हो चुकी है कि कहानीकार को अब किसी नक्काद के मौजूदगी या अदम मौजूदगी से खौफ़ ज़दा होने की कतई जरूरत नहीं है। क्योंकि कहानी एक टूटता हुआ महल हरगिज़ नहीं है जिसे सहारे के लिए लकड़ी के बड़े-बड़े शहतीरों की जरूरत पड़े। यह तो मौजे मारती हुई एक रवां-दवां नदी की तरह आगे ही बढ़ रही है। इसके रास्ते में कहीं मोड़ भी आ जाते हैं, कहीं पहाड़, और चट्टानें भी और यह अपना रास्ता बहरहाल तलाश कर लेती

है। कहानीकार को उस वक्त इतनी मायूसी जरुरत होती है जब उसका नक्काद उसके तर्जे फिक्र व अमल का जेहनी तौर पर साथ नहीं दे पाता है। खुशी की बात यह है कि अब .उर्दू का कहानीकार खुद अपनी कहानी का नक्काद भी बन रहा है। यह असर मुख्य रूप से हिंदी से ही आया है। कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव और कुछ दूसरे कहानीकारों ने जिस ऐतमाद और मेहनत से अपनी और अपने साथियों की कहानियों पर लेख लिखे हैं उससे उर्दू अफ़साना निगारों को भी एक तहरीक मिली हैं। मैं समझता हूँ कि उनकी यह कोशिश आगे चलकर कहानी के तनकीद के सिलसिले में कोई बहुत बड़ा रोल अदा करनेवाली है। एक आख़ीरी बात। कुर-अ-तुल ऐन हैदर ने अपने मजमून में (जिसे मजमून कहना ज्यादती होगी) उर्दू फिक्शन के पाठकों की कमी का रोना रोया है और उसकी वजह उर्दू ज़बान के धीरे-धीरे मिटते जाने में ढूँढ़ी है तब उर्दू ज़बान के मिटने के अमल का ताल्लुक है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, लेकिन इसके नावेलों और अफसानों के कारईन की कमी का हकीकी सबत सन्जीदा अदब के शायकीन की अजली कमी ही है। उर्दू क्या दूसरी ज़बानों में भी जिनके हिंदुस्तान के अलावा दूसरे मुमालिक के जबानें भी शामिल की जा सकती है। सन्जीदा अफ़साने पढ़ने वाले हमेशा कम रहे हैं। घटिया, रुमानी और फुटपात वाली तहरीरों के कारयीन हर कहीं लाखों के तादाद में मिल जाते हैं। सन्जीदा और सेहत मंद अदब तखलीक करने वाले खुद भी अकलियत में रहे हैं और उनके पढ़ने वाले भी।

❐❐❐

मार्च, १६७२ में समकालीन हिंदी-उर्दू-कथा साहित्य की समानान्तर प्रवृत्तियाँ विषय पर आयोजित संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख।

हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता समस्याएँ, उपलब्धियाँ तथा संभावनाएँ

श्री रघुवीर सहाय

साहित्यिक पत्रकारिता से अभिप्राय क्या है ? क्या साहित्य संबंधी पत्रकरिता? या साहित्यिक भाषा में पत्रकारिता ? या फिर केवल पत्रकारिता जो साहित्य भी हो? विचार-गोष्ठी को इनमें से एक यह सभी जाँचने के लिए मुक्त रखकर मैं केवल एक निषेध ध्यान में रखूँगा-राजनैतिक विवेचना से हमारा अभिप्राय शायद नहीं है। बाकी सभी विषयों पर लेखन जो काल्पनिक कथा-कहानी की परिभाषा में न बँधता हो, साहित्यिक पत्रकारिता मान लीजिए तो बहस आसान हो जाती है, अन्यथा बहस साहित्य पत्रिकाओं से आरंभ करके अंत में हम कविता से इतर विधाओं पर ही पहुँचेगें। यह कहते हुए मुझे अनुमान है कि संभवतया किसी का आग्रह हो कि साहित्य संबंधी खोज-बीन ही साहित्यिक पत्रकारिता मानी जा सकती है। वास्तव में पत्रकारिता का निम्नतम कोटि में रखने योग्य तत्त्व अर्थात् तथ्य संकलन तो बहुधा ऐसी साहित्यिक खोजबीन में भी पाये जाते हैं जो विश्वविद्यालयों में शोध-प्रबंध का नाम धर कर स्वीकृत होती है-किंतु निश्चय ही विद्वान् आलोचक वृंद को पत्रकार कहकर चिढ़ाना यहाँ किसी का लक्ष्य नहीं है, बहुधा साहित्यकारों ने भी अपने कृतित्व का आलोचना जगत् में यथायोग्य स्थान सुरक्षित करने के लिए कहानी, कविता आदि के सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। सामयिक उद्देश्यों की पूर्ति का तत्त्व इनमें विद्यमान रहने के कारण ये भी पत्रकारों की धृष्टता कहलाये जो साहित्यकार नहीं हैं।

इससे मैं इस प्रश्न पर आता हूँ कि क्या पत्रकार और साहित्यकार में कोई अंतर है ? मैं मानता हूँ कि नहीं है। इसलिए नहीं कि साहित्यकार रोजी के लिए अखबार में नौकरी करते हैं बल्कि इसलिए कि पत्रकार और साहित्यकार दोनों नये मानव संघ की तलाश करते हैं। दोनों ही बताना चाहते हैं कि दो मनुष्यों के बीच नया संबंध क्या बन रहा है। दोनों के

उद्देश्यों में पूर्ण समानता है। कृतित्व में समानता कमोवेश है। पत्रकार जिन तथ्यों को एकत्र करता है उनको क्रमबद्ध करते हुए उन्हें उस परस्पर संबंध से विच्छिन्न नहीं करता जिससे वे परस्पर जुड़े हुए हैं और क्रमबद्ध हैं। वह केवल उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण को सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान दे देता है। साहित्यकार के लिए तथ्यों की जानकारी उतनी ही अनिवार्य है जितनी पत्रकार के लिए परंतु उन तथ्यों का गतानुगत क्रम उसके लिए अवध्य नहीं है बल्कि तथ्यों के परस्पर संबंध को जानबूझ कर तोड़कर ही साहित्यकार उन्हें नये सिरे से क्रमबद्ध करता है और इस प्रकार के एक नये संपूर्ण सत्य की सृष्टि करता है जो एक नया यथार्थ एक संभव यथार्थ होता है। पत्रकार के लिए यथार्थ वही है जो संभव हो चुका हो, साहित्यकार के लिए वह है जो संभव हो सकता हो।

दोनों में इतने अंतर के बावजूद गहरी समानताएँ हैं। दोनों यदि घटनाओं के भीतर छिपे अर्थ नहीं खोजते तो दोनों असफल रहते हैं। जो पत्रकार निरी सूचनाएँ जमा करके उन्हें सजा देता है वह उसी साहित्यकार के समान असफल है जो निरी भावनाएँ जमा करके उन्हें सजा देता है। ज़िस हद तक ये दोनों प्रकार के लेखक घटनाओं के भीतर मानव संबंध के बदलते रूप देखते हैं उस हद तक एक दूसरे के निकट आते हैं।

मैं यह शिकायत करने की धृष्टता करने की अनुमति चाहता हूँ कि हिंदी में यही सबसे कम हुआ है। इस टंड में जब इस जिले में ३ और उस जिले में ४ मौतों की खबरे आ रही हैं तो हिंदी के पत्रकार जगत् से यह आशा करना कोई ज्यादती न होगी कि वह इस मामले की भी जाँच करे कि आखिर कौन लोग है जो टंड से मरते हैं साहित्य जगत् से जो संभव नहीं हो सकता है वह पत्रकार कर सकता है। साहित्य से-अर्थात् संभ्रात साहित्यकार से टंड में अकड़ कर मरे हुए आदमी के लिए इतनी सम्वेदना दुष्कर है कि वह उसको लेकर साहित्य रच सके। उस मृत्यु में न मृत्युबोध है न संत्रास क्योंकि वह भोगा हुआ यथार्थ आदि नहीं है तथापि पत्रकार के लिए ऐसा कोई सच्ची अनुभूति वाला बंधन नहीं हैं। वह तटस्थ होकर जाँच शुरू कर सकता है यद्यपि जाँच आरंभ वह तभी करेगा जब वह मरे हुए आदमी का पक्षधर हो। जाँच के अंत में उसके नतीजे भी पक्षधर हो सकते हैं। इस अर्थ में कि वे मौत की जिम्मेदारी ईश्वर पर न डाल दे। हर हालत में पत्रकार का ही यह काम है कि मृत्यु की ऐसी टंडी ख़बरें पढ़ने के अभ्यस्त लोगों को बतायें कि क्यों हर साल कुछ विशेष वर्गों के ही लोग टंड में मरते है और उनके मन से यह भ्रांति दूर करे कि ये लोग जाड़ें में बर्फ का मजा लेने निकले थे और दुर्घटना से मर गये। यदि पत्रकार यह काम करता है तो वह साहित्यकार हो या न हो आप उसके कृतित्व को

साहित्यिक पत्रकारिता कह सकते हैं। इसलिए कि उसमें वहीं जिज्ञासा है जो साहित्यकार में होनी चाहिए। इसलिए नहीं कि उसने अपना वृतान्त साहित्यिक शैली में लिखा है।

साहित्यिक शैली का जिक्र आया है कि अपनी एक आशंका भी जता दूँ। हिंदी में बहुत समय से पत्रकारिता की भाषा बदलती चली आ रही है। वह वर्गीकरण की प्रवृत्ति से किसी भाँति हाथ-पाँव मार कर छूट रही हैं, विश्लेषण की ओर बढ़ रही है। विशेषण प्रियता अभी उसने पूरी तरह छोड़ी नहीं तो भी अहा अहो का युग बीत चुका। चुटकी लेने का सामर्थ्य तो उसमें था हीं। चुटकी से बात को पकड़कर उठा लेने का अभ्यास भी वह कर रही है। फिर भी अभी हमारी पत्रकारिता से २ अनावश्यकताएँ निकली नहीं है-एक है अहं और दूसरा विस्मय। ये दोनों साहित्य की देन है। साहित्य भी इन्हें लेकर श्रेष्ठ नहीं हो सकता परंतु पत्रकार का लेखन तो निश्चय हीं इनके रहते खंडित होता है। इन दोनों के संयुक्त दोष के कुछ उदाहरण हिंदी में लिखे यात्रा वृतांतों में मिलते हैं जिनमें हवाई जहाज में बैठने का विस्मय और विदा देने आये लोगों की भक्ति का वर्णन इस विश्वास से किया जाता है कि विदेश के यात्री के जीवन के अविस्मरणीय क्षणों की कथा बाँसगाँव के बेचारे हिंदी पाठक पढ़ने के लिए व्यग्र हो रहे होंगे। विश्लेषण तो इन दोनों को मन में रखकर संभव है ही नहीं। संवादर भी मानव संबंध के स्पंदन से वंचित रह जाता है। यह निरा शैलीगत दोष नहीं है। हिंदी भाषी क्षेत्र में पत्रकारिता के आदिकाल से वैयक्तिकता का यह अतिरेक पाया जाता है। हो न हो इसका संबंध पांडित्य के प्राचुर्य और अनुभव के अभाव से ही है।

साहित्यिक पत्रकारिता का अर्थ जो विद्वान् साहित्य के क्षेत्र में पत्रकारिता लगाये उनसे मैं दो शब्द कहना चाहता हूँ। एक दूसरे को लिखी चिट्ठियों के संग्रह और प्रकाशन को पत्रकारिता नहीं कहते। यह गतिविधि शायद पत्रों से संबंध रखती है यहीं सोचकर इसे पत्रकारिता कहा जाता होगा। अन्यथा इसमें कुछ कृतित्व नहीं है। पत्र लेखकों का कृतित्व नहीं व्यक्तित्व है जिसके प्रकाशन का औचित्य तभी है जब वह व्यक्तित्व दूसरों के जानने योग्य क्षेत्र में प्रकाशमान हो। तभी संपादक का भी कुछ योगदान पत्रों के चयन में हो सकता है। साक्षात्कार नामक विधा के प्रति हिंदी के विराट् संसार में व्यापक मोह के विषय में भी मेरा यही आशय है।

अंत में उस कला का उल्लेख करना आवश्यक है जिसे शायद बहुमत से साहित्यिक पत्रकारिता माना जाये। वह है साहित्यिक पत्रिकाओं के संपादन की कला। इस क्षेत्र में मेरी समझ में विशेष कुछ करने की ठीक इसी समय जरूरत हैं साहित्य की पत्रिकाओं की भरमार होते हुए भी साहित्य के संपादकों की निराशाजनक कमी है। १९४७ के आसपास

रचनात्मकता की एक लहर दौड़ी थी-नया साहित्य, हिमालय, प्रतीक ये उस समय के स्तंभ थे और इनमें प्रतीक द्वैमासिक और अनंतर मासिक का वैसा योगदान विशेष रहा जैसा साहित्य की पत्रिका का रहना चाहिए अर्थात् चारों ओर जो लिखा जा रहा है उसमें से मोटी चीजें छाँटना और उन्हें प्रकाशित कर मानदण्डों की स्थापना करना। यह केवल इसीलिए संभव नहीं था कि चारों ओर काफ़ी कुछ लिखा जा रहा था वास्तव में ऐसा हो सका, संपादक के व्यक्तित्व के कारण। और इसी के कारण ही ऐसा होता हैं। संपादक यदि साहित्य-धारा को दिशा देने से घबराता है तो वह उसके संपादन में लक्ष्य होगा। विविधता का प्रतिनिधित्व देने की सदाशयता से ही साहित्यिक पत्रिका का निर्माण नहीं होता। १९६० के आसपास के समय में यही इच्छा साहित्यिक पत्रिकाओं की प्रेरणा रही। परिणामतया लेखक और संपादक में भेद नहीं रह गया।

इस घटना को समझने के लिए हमें हिंदी भाषा के स्वान्त्रोत्तर कार्य-व्यापार को भी समझना पड़ेगा। स्वाधीनता के साथ-साथ हिंदी को विशेष प्रतिष्ठा देने की योजना चली थी। इसके अंतर्गत हिंदी को जनसाधारण की राजभाषा न बनने देने की प्रक्रिया चली जिसमें हिंदी के बड़े-बड़े विद्वान और नेता अंग्रेजी हिंदी में शब्दों के अनुवाद के काम की १०/२० वर्ष की परिकल्पना करके उसमें व्यस्त हो गए। १९६० आते-आते स्थिति यह हो गई थी कि विविध विषयों में ऐसे हिंदी भाषी लोगों की व्यापक कमी हो गयी जो उस विषय के ज्ञाता और कर्त्ता हो, उन विषयों का अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद की योग्यता के सहारे जीविका खोजने वालों की संख्या बहुत बढ़ गयी। १९६५ आते-आते इन सब को अरक्षित छोड़कर हिंदी के सलाहकारों ने अवकाश लेना आरंभ कर दिया-सरकारी कृपादृष्टि भी रिक्त हो चली थी। नयी पीढ़ी को हर जगह अपने पैरों खड़े होने की अचानक जो जरूरत आ पड़ी थी, अनेकानेक साहित्यिक पत्रिकाओं के उदय का वही रहस्य है और वही उनके अस्त का भी है।

आज स्थिति कुछ और है। पत्रिकाओं की संख्या में विशेष कमी नहीं हुई, परंतु लेखन के परिमाण में अबोध वृद्धि नहीं हो रही है। कम लिखा जा रहा परन्तु पहले से अच्छा लिखा जा रहा है। अब भी यदि किसी संकोचवश साहित्य के संपादक साहस करके उत्कृष्टता का मानदंड नहीं स्थापित करते तो दुर्भाग्य ही कहा जायेगा। ऐसी दशा में प्रत्येक अच्छे लेखक को अपनी साहित्य-पत्रिका जिसमें केवल उसकी रचनाएँ ही प्रकाशित हों, निकालने की योजना करनी चाहिए।

◘◘◘

(हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता : समस्याएं, उपलब्धियाँ तथा संभावनाएं विषय पर फरवरी, १९७२ में हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा अयोजित संगोष्ठी में व्यक्त किए गए विचार।)

हिंदी नाटक की दिशाएँ

श्री नेमिचन्द्र जैन

मैं कुछ उलझन में हूँ कि बात कैसे शुरू करूँ। शयद क्षमा-याचना से शुरू करना चाहिए, क्योंकि मुझे लग रहा है कि इस परिसंवाद के विषय-प्रवर्तन की ज़िम्मेदारी लेकर मैंने गलती की। जल्दी में आमंत्रण स्वीकार तो कर लिया, पर बाद में जब निबंध लिखने बैठा तो बड़ी घबराहट हुई। नये नाटक की प्रवृत्तियाँ। नया नाटक ? क्या है नया नाटक ? कहाँ है नया नाटक ? समकालीन हिंदी नाटक में 'नये' की इस चर्चा या तलाश से क्या मुराद हो सकती है ? मैंने पाया कि मुझे इन सवालों के ठीक जवाब मालूम नहीं, शायद वैसे जवाब मालूम नहीं जैसे आप पाने की उम्मीद करते हों।

वेशक, पिछले पंद्रह-बीस साल में हिंदी में नाटक ने एक मोड़ लिया। एक तरह से यह जैसे हिंदी नाटक का नया जन्म था। इस बीच कुछ नाटक ऐसे लिखे गए जिनसे हिंदी नाटक का दर्जा बढ़ा, जिनमें नाटक-लेखन की कुछ ऐसी बुनियादी ज़रूरतें पूरी करने की दिशा में क़दम बढ़ाये गये जिनके बिना नाटक सचमुच नाटक नहीं होता, कम से कम सार्थक रचना नहीं होता। इन नाटकों से नाटक का असली रूप फिर से साफ हुआ। यानी नाटक पाठ्य-पुस्तकों या मात्र पुस्तकों की दुनिया से अपनी सही जगह रंगमंच पर लौट आया और रंग-सृष्टि के ज़टिल और बहुस्तरीय कार्यकलाप से उसका रिश्ता जुड़ा बल्कि ज़्यादा गहरा और अनिवार्य हो गया। इसके साथ ही निरी मनोरंजन की या विवरणात्मक अथवा सुधारक वाली दृष्टि से भी नाटक को छुटकारा मिला, और एक महत्त्वपूर्ण कला माध्यम के रूप में, समकालीन ज़िंदगी को पहचानने समझने और अभिव्यक्त करने के एक सार्थक, संवेदनशील और प्रभावी साधन के रूप में उसकी प्रतिष्ठा हुई। तो क्या नई प्रवृत्तियों की चर्चा से मंशा उन बातों को समझने का है जिनके कारण यह सब संभव हो सका ? पर इसमें तो नाटक का नयापन उतना नहीं, जितना उसका नाटकपन है। अभी तो नाटक से नाटक

होना शुरू किया है और उसकी उत्तेजक संभावनाएँ भी दिखाई पड़ने लगी हैं। इन संभावनाओं या दिशाओं को, या साहित्यिक जार्गन में कहें तो प्रवृत्तियों को, पहचानने की कोशिश की जा सकती है और की जानी चाहिए भी। पर क्या उससे नये नाटक का कुछ अता-पता मिलेगा ?

दरअसल मुझे तो लगता है कि आज की हालत में, हिंदी नाटक के संदर्भ में, 'नया' बहुत प्रासंगिक या सार्थक विशेषण नहीं है। और हिंदी ही नहीं, एक-दो भाषाओं को छोड़कर शायद सारे भारतीय नाटक में यह तलाश कुछ जल्दबाज़ी ही साबित हो। बल्कि मुझे तो डर है कि वह भटकाने वाली और खतरनाक साबित हो सकती है। नये नाटक की चर्चा से ज़रूरी तौर पर नयी कविता और नयी कहानी की बहसों की याद आती है। मेरी राय में उन बहसों ने हिंदी कविता और कहानी का भी बहुत भला नहीं किया। पर नाटक को उसमें घसीटने से तो कुछ भी हासिल होगा ऐसा नहीं लगता। नाटक तो अभी-अभी बड़ी मुश्किल से साहित्य के विद्वानों और अध्यापकों के चंगुल से, उनके दमघोंटू पंडिताऊ वर्गीकरण की साँसत से, निकल पाया है अब फिर उसे हिंदी जगत् के विख्यात प्रयोगवादी और नये, और उसके भी आगे किसम-किसम के सौठोत्तरी या अमुकवादी तमुकवादी साहित्यिक खानों या खंमों में घेर कर बंद करने से क्या मिलेगा?

मुझे लगता है कि आज के हिंदी नाटक के बारे में इस धरातल पर बहस बहुत कारगर नहीं हो सकती और शायद किताबी मुद्दों के इर्द-गिर्द भटकती रह जाये। उसका उन लोगों के लिए खास मानी नहीं होगा जो नाटक और रंगमंच से ऊपरी तौर पर नहीं बल्कि सक्रिय रूप से जुड़े हैं। इसकी भी आशंका है कि यह चर्चा रंगमंच और नाटक में काम करने वालों को या तो छुएगी ही नहीं और छुएगी भी तो उनके और हिंदी साहित्यकारों के बीच अभी तक मौजूद दूरी को शायद और भी बढ़ा दे। हिंदी नाटक इस समय जैसी हालत में है उसमें ज्यादा से ज्यादा इस बात की कुछ जाँच-पड़ताल हो सकती है कि उसमें पिछले दिनों कौन-से रुझान आये हैं, कथ्य, नाट्य-रूप और भाषा के स्तर पर वह कौन-सी दिशाएँ ले रहा है। 'नये नाटक की प्रवृत्तियाँ' नहीं, 'नाटक की नयी प्रवृत्तियाँ' शायद बहस का मुद्दा हो सकता है।

आज के इस परिसंवाद का विषय प्रवर्तन करने में मेरी उलझन का एक और भी कारण है। शायद अपेक्षा यह है कि नये नाटक की प्रवृत्तियों के संदर्भ में मुख्यतः उस नाटक और रंगमंच की चर्चा की जानी चाहिए जिसे 'ऐब्सर्ड ड्रामा' कहा जाता है। अगर अपेक्षा सचमुच यही है तो इस बहस को शुरू करने में मेरी अनुपयुक्तता और ज़्यादा है। क्योंकि मुझे लगता है हमारे देश में हिंदी ही क्या, किसी दूसरी भाषा में भी कोई ऐसे

उल्लेखनीय नाटक नहीं हैं जिन्हें 'ऐब्सर्ड' या विसंगत नाटक कहा जा सके। थोड़े-बहुत छिटपुट प्रयास एकांकियों या लघु-नाटकों में हुए हैं। इनमें हिंदी में विपिनकुमार अग्रवाल के एकांकी संग्रह 'तीन अपाहिज' मोहन राकेश के 'दो बीज' नाटक और मणि मधुकर के कुछ एकांकियों का जिक्र किया जा सकता है। कश्मीर के मोतीलाल क्यमू ने भी कुछ विसंगत एकांकी लिखे हैं और हाल में दिल्ली में बलराज पंडित के अपेक्षया लंबे लघु-नाटक 'पाँचवा सवार' में भी संवेदना का रूप वैसा ही हैं कन्नड़ में लंकेश और चंद्रशेखर पाटील और मराठी में महेश एलकुंचवार और वृंदावन दंडवते के कुछ एकांकियों पर यूरोपीय विसंगत नाटकों का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

पर मेरी राय में भारतीय और हिंदी नाटक के संदर्भ में यह सब हाशिये का लेखन है इसका रंगमंच से कोई जीवंत या सार्थक संबंध नहीं। ये एकांकी अक्सर तो कविता और कहानी की संवेदना (सेंसिबिलिटी) को नाटकीय ढाँचे में पेश करते हैं। जहाँ उनमें नाटकीय विचार या स्थिति की पकड़ है भी, वह इतने छोटे फलक पर प्रस्तुत है कि उसका रंगमंचीय आयाम नहीं बनता। इसलिए अगर नाटक को रंगमंच के साथ जुड़ा रहना है तो इन विसंगतिवादी लघु-नाटकों को भारतीय या हिंदी नाटक के किसी उल्लेखनीय विचारणीय रुझान या दिशा के रूप में स्वीकार करना फिलहाल बहुत संभव या उपयोगी नहीं जान पड़ता।

इस परिस्थिति के दो पक्ष हैं। एक तो बाहरी है। एकांकी या लघु-नाटक रंगमंच की दृष्टि से एक उपयोगी और संभवतः दिलचस्प अभ्यास से ज्यादा कुछ नहीं। वह किसी भी हालत में मुख्य रंगमंचीय कार्य-कलाप नहीं बन सकता। उसकी खपत या तो स्कूलों कालेजों में शौकिया काम-काज में होती है या ज्यादा से ज्यादा मुख्य रंगकार्य के दौरान अवकाश के समय या स्वाद बदलने के लिए कभी-कभी उसकी उपयोगिता हो सकती है। बुनियादी तौर पर उससे न तो रंगमंच और नाटक की दिशा पर कोई असर पड़ता है न वह अपने आपमें किसी महत्त्वपूर्ण गतिविधि का सूचक होता है। इसलिए जिस रूप में विसंगतिवादी लेखन हमारी भाषाओं में मौजूद है वह नाटक की हालत के एक महत्त्वपूर्ण रेशे के रूप में, या उसकी दिशा के रूप में, बहुत विचारणीय नहीं है।

यहाँ मैं विपिन कुमार अग्रवाल के लघु-नाटकों का जिक्र कर सकता हूँ। मैं उनके लेखन और उसके पीछे सक्रिय संवेदना का प्रशंसक हूँ। उसमें एक तरह की ताज़गी है और नाटकीय स्थितियों की एक अलग तरह की पकड़ है। पर उनके नाटक रंगमंच पर कोई असर नहीं डालते। ज़्यादा से ज़्यादा कुछ नवीनता प्रेमी विश्वविद्यालयों की नाटक-सभाओं के या किसी नाटक मण्डली को कोई और नाटक न मिले तो इन्हें ही कर देखने

के काम आते हैं। मैंने विपिन जी से कई बार अनुरोध किया है कि वे कोई पूर्णाकार नाटक लिखें। उससे आज के हिंदी नाटक में कुछ विविधता आयेगी। उम्मीद करना चाहिए कि कभी वह लिखेंगे। पर फिलहाल ऐसे नाटक नहीं हैं और कभी-कभी मुझे यह लगता है कि विसंगतिवादी मुहाविरे में पूर्णाकार नाटक न लिखे जाने के पीछे कहीं कुछ वही या वैसी ही आंतरिक परिस्थितियाँ तो नहीं है जिनके कारण हिंदी में पिछले दौर में समक्ष और महत्त्वपूर्ण कहानियाँ तो लिखी गई हैं पर उपन्यास नहीं।

मगर मेरी राय में हमारे देश में विसंगतिवादी लेखन की अप्रासंगिकता का एक और बड़ा कारण भी है। विसंगत नाटक यूरोपीय सभ्यता के ऐसे छोर पर पहुँच जाने के अहसास से पैदा हुआ जहाँ से लौटने का रास्ता उसे नहीं दीख पड़ता। उसके पीछे जो दार्शनिक दृष्टि है वह कई हज़ार वर्ष से अपने आपको सर्वश्रेष्ठ और अविजेय समझने वाले समाज के युद्ध की विभीषिका से, टैक्नोलोजी और उससे पैदा होने वाली सम्पन्नता अंतर्विरोध से उत्पन्न हताशा और विघटन के कगार पर पहुँचने से निर्धारित हैं उन्नीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक उन्नति से, विकासवाद और उस पर आधारित निरंतर प्रगति के सिद्धांतों में अटूट विश्वास से मनुष्य की क्षमता में जो आस्था बनी थी वह बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में आकार अचानक ढह गयी। अब यूरोपीय आदमी को खासकर पश्चिमी जगत् के विचारकों को लगा कि इंसान का आपसी संप्रेषण खत्म हो चुका है और उसे फिर पाने का किसी भी प्रकार का प्रयास न सिर्फ निरर्थक हो गया है बल्कि असंभव है। आदमी आदमी के बीच, आदमी और चीज़ों के बीच शब्द और कार्य के बीच, शब्द और शब्द के बीच सब रिश्ते टूट गये हैं, वे व्यर्थ हैं, नामुमकिन है। विसंगतिवादी दृष्टि पश्चिमी जगत् के अपने सामाजिक और वैचारिक संकट और उसमें अपनी असहायता के अनुभव की उपज है। पश्चिमी दुनिया की इस पतन शील विचारधारा को हमारे द्वारा अपनाने की कोई खास ज़रूरत नहीं नज़र आती।

पर यहाँ सवाल यह नहीं है कि इंसान की नियति के बारे में विसंगतिवादी निष्कर्ष गलत हैं या सही। सवाल यह है कि क्या वे आज हमारे भी अनुभव की उपज हैं ? मेरा विचार है कि नहीं हैं। हमारे अपने सामाजिक सांस्कृतिक अथवा वैचारिक-दार्शनिक इतिहास के संदर्भ में वे आरोपित और अयथार्थ हैं, और एक प्रकार की आयातित या उधार ली हुई बौद्धिक मुद्रा को सूचित करते हैं। हमारे देश में भी टैक्नोलॉजी कभी वैसी ही शक्ल अख़्तियार कर भी ले, जिसकी संभावना बहुत कम दीखती है, तो भी शायद उस पौइन्ट आफ़ नो रिटर्न पर हमारे पहुँचने के पहले ही हर चीज़ इतनी बदल जायेगी कि विसंगतिवादी दृष्टि शायद ज़रूरी ही

न रहे। बहरहाल आज हमारे देश की हालत वैसी नहीं है कि विसंगतिवादी मुद्रा को बहुत सार्थक माना जाय।

सच बात यह है कि आज पूरे भारतीय नाटक का मुख्य स्वर तीखे असंतोष, गुस्से और सामाजिक-राजनैतिक परिवर्तन के आग्रह का है, हताशा और विसंगति का नहीं। यहाँ तक कि बादल सरकार जैसे नाटककार भी, जिन पर यूरोपीय विचार-धारा का असर सबसे ज्यादा है, आपने 'सारी रात', 'तीसवीं शताब्दी' जैसे नाटकों में यहाँ तक कि 'शायद' एवं 'इंद्रजित' में भी, और विशेष रूप से नवीनतम 'सगीना महतो' में, सामाजिक परिवर्तन की संवेदना ही ज़ाहिर करते हैं। बंगाल के ही मोहित चटर्जी, मनोज मित्र, उत्पल दत्त, कन्नड़ के गिरीश कारनाड, आद्य रंगाचार्य, मराठी के विजय तेंदुलकर, चिंतामणि खानोलकर-यानी भारतीय नाटक के सारे सक्षम स्वर आज की जिंदगी के अंतर्विरोधों को प्रतिवद्धता के साथ उधेड़ते हैं, हताशा और अनिवार्य विसंगति की चेतना से नहीं। हिंदी के नाटककारों और नाटकों का कुछ विस्तार से जिक्र मैं कुछ बाद में करूँगा। पर इतना निश्चित है कि उनकी चेतना का मुख्य स्वर भी सामाजिक परिवर्त का ही है, हताशा का नहीं।

मेरे विचार में सर्वव्यापी और अपहरिहार्य हताशा से उत्पन्न असह्य यातना और संत्रास के बिना विसंगतिवादी नाटक के केवल नयी शैली रूप या भाषा के खेल पर रह जाने का बड़ा डर है जो भी हो, हिंदी नाटक पर बहस में उसकी कोई प्रासंगिकता मुझे नहीं लगती। शायद यह हमारे नाटक और रंगमंच की जीवंतता और स्वस्थता का ही सबूत है-शायद कुछ लोग इसे उसके पिछड़ेपन का सबूत भी कहना चाहें-कि वह अभी इस दिमागी अय्याशी में नहीं फँसा है। मुझे लगता है कि हमारे यहाँ विसंगतिवादी नाटक का अवास्तव सवाल शायद ऐसी ही जगह अहमियत पा सकता है जहाँ रंगमंचीय कार्यकलाप बहुत अल्प और क्षीण हो और किताबी चर्चा ज्यादा होती हो।

बहरहाल, मुझे यह ज़रूरी लगा कि आज के विषय के संदर्भ में अपनी समझ की इन सीमाओं को पहले आपके सामने रख दूँ। अब शायद उन सीमाओं के अंदर मैं आपसे आज के हिंदी नाटक के बारे में कुछ कहने की कोशिश कर सकता हूँ। सबसे पहली बात तो यह कि पिछले वर्षों में पूरे भारतीय नाटक के और हिंदी के अपने क्षेत्र में हिंदी नाटक की बहुत चर्चा के बावजूद, हिंदी नाटक की कुल जमा पूँजी मात्रा तथा गुण दोनों में बहुत ही छोटी है। उसके बारे में सावधानी से सोचने की ज़रूरत है न तो उसको लेकर कोई भ्रम पालने में कोई लाभ है न उन नयी संभावनाओं को नज़र-अंदाज करने में जो इस बीच हिंदी नाटक ने अपने भीतर पैदा की

है।

आज़ादी के बाद से हिंदी नाटक की बड़ी उपलब्धियाँ हैं धर्मवीर भारती का 'अंधा युग' और मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' और 'आधे-अधूरे'। इनमें भी अंधायुग, इस दौर के नाटकों में सबसे महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इतना पुराना हो गया, और काव्य-नाटक होने के कारण सामान्य नाटक लेखन की धारा से वह इतना अलग रहा, कि इतिहास की चीज़ बन गया है। इस लिहाज से राकेश के दो नाटक निःसंदेह ऐसे हैं जिनसे हिंदी नाटक का दर्जा बढ़ा। पहली बार इन नाटकों में कथ्य की सार्थक समकालीनता, नाट्य-रूप की कसावट और भाषा की बहुस्तरीय नाटकीयता का ऐसा संयोजन हुआ जिससे हिंदी नाटक और रंगमंच दोनों में मज़बूती आयी। यह नहीं कि वे महान कृतियाँ हैं, बल्कि शायद वे किसी बहुत गहरे या ऊँचे सर्जनात्मक धरातल को भी सूचित नहीं करती। पर उनमें उतनी संगति या वैलिडिटी ज़रूर मौजूद है कि महत्त्वपूर्ण नाटकों के रूप में उन पर विचार हो सके।

मगर दुर्भाग्यवश अब राकेश भी दृश्य में नहीं हैं। अगर वह होते तो नामुमकिन नहीं था कि हिंदी नाटक को आगे कुछ और गति, कुछ और सफलता मिलती। यह बात इसलिए भी कुछ दुर्भाग्य की है कि जो और नाटक इस बीच लिखे गये हैं या लिखे जा रहे हैं उनसे सब मिला कर सफलता के स्तर पर कोई बहुत उत्तेजक या उज्ज्वल तस्वीर नहीं बनती। उनमें पूरी याकि न्यूनतम वैलिडिटी वाले नाटक भी शायद नहीं के बराबर हैं। यह भी ठीक है कि वे सभी कमोवेश अभ्यास जैसे हैं जिनमें आंशिक सफलताएँ या संभावनाएँ ही अधिक हैं, किसी महत्त्वपूर्ण बिंदु तक पहुँचने की उपलब्धि नहीं मगर साथ ही यह भी उतनी ही सही है कि वे नाटकीय विचार, जीवन के अनुभव का नाटकीय बोध, दृष्टि की साहसिकता, टैक्नीक की निपुणता, नाट्य-रूप के किसी दिलचस्प तत्त्व का उपयोग अथवा नये मुहावरे की नाटकीय पकड़ आदि, एक न एक बात में सब मिलाकर निश्चित रूप से इतनी दिशाएँ सूचित करते हैं कि उन्हें किसी अगली बड़ी सफलता के लिए बहुत ज़रूरी तैयारी और अभ्यास का काम माना जा सके।

जैसे, इन नाटकों में प्रस्तुत कथ्य और जिंदगी के अनुभव को ही लें। ज्यादातर नाटक, व्यापक सामाजिक-राजनैतिक फलक से लगा कर सीमित वैयक्तिक जीवन तक, असंगतियों और अंतर्विरोधों की, विघटन और कुंठा की तीखी आलोचना या उनसे पैदा होने वाली बिडंबना को पेश करते हैं। ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतरमुर्ग', लक्ष्मीनारायण, लाल के 'मि० अभिमन्यु', मुद्राराक्षस, के 'मरजीवा' अमृतराय के 'चिंदियों की एक झालर'

और 'हम लोग उर्फ़ यहीं कहीं होगा' में व्यापक राजनैतिक भ्रष्टता और मूल्यों की गिरावट के अलग-अलग रूप दिखाई पड़ते हैं, भौतिक मान्यताओं से ग्रस्त समाज में व्यक्ति का विघटन सुरेंद्र वर्मा के 'द्रौपदी' में और दफ़्तरी ज़िंदगी की अमानवीयता यांत्रिकता और बेईमानी मुद्राराक्षस के 'योर्स फ़ेथफुली' 'रमेश उपाध्याय के 'पेपरवेट' और अखिलेश्वर झा के 'हमारी माँगें' में हैं, सामान्य राजनैतिक जीवन का दमघोंटू, वातावरण, पाखंड हिंसा और क्रूरता ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'अनुष्ठान' और हमीदुल्ला के 'एक और युद्ध' तथा 'समय संदर्भ' में दीख पड़ती है, लक्ष्मीनारायण लाल के 'करफ्यू', मुद्राराक्षस के 'तिलचट्टा', 'तेंदुआ', सुरेंद्र वर्मा के 'एडिथ डोल' और मृदुला गर्ग के 'एक और अजनबी' में वैयक्तिक संबंधों में पड़ती दरारों और उससे उत्पन्न त्रास और करुणा है, बृजमोहन शाह के 'त्रिशंकू', बलराज पंडित के 'पाँचवाँ सवार' और रमेश बक्शी के 'देवयानी का कहना है' में युवा समुदाय के असंतोष, आक्रोश और कुंठा के कई पक्ष हैं। इनमें से कई नाटकों में स्त्री-पुरुष संबंधों को नये सिरे से जाँचने और कामजीवन के दबावों और तनावों को रूप देने की कोशिश है।

सरसरी नज़र से की गयी प्रकाशित-अप्रकाशित नाटकों की इस गिनती से भी इतना ज़ाहिर है ये नाटक समकालीन जीवन के यथार्थ अनुभव तक बेझिझक जाने और उसके केन्द्र को तथा उसके विभिन्न अवयवों के आपसी संबंधों को पहचानने की कोशिश कर रहे हैं। इनकी सर्जनात्मक उपलब्धि का स्तर जो भी हो, चेतना और संवेदना के स्तर पर ये हिंदी के दूसरे लेखन से बहुत दूर या पीछे नहीं हैं। हिंदी के आम सर्जनात्मक लेखन और नाटक के बीच जो दूरी हुआ करती थी वह अब कम होती जा रही है। रंगमंच और सर्जनात्मक लेखन के बीच अलगाव के कम होने की प्रक्रिया चल पड़ी है।

यह बात भाषा के मामले में और भी साफ़ है बल्कि इस दौर के हिंदी नाटक लेखन की बहुत-बड़ी सफलता यह है कि उसमें नाटक के लिए उपयुक्त ज़रूरी जीवंत भाषा आने लगी है। यह भाषा ज्यादा सीधी है, उसमें हिंदी कविता या उपन्यास की रूमानी रंगत नहीं है, पर ऐसा इकहरापन भी नहीं कि नाटकीय तनाव ही नष्ट हो जाय या एकदम सतही रह जाय। 'द्रौपदी', 'देवयानी का कहना है', 'तिलचट्टा', 'त्रिशंकु', 'एक और अजनबी', 'पाँचवां सवार' आदि नाटकों में बड़ी सतर्क संवेदनशीलता के साथ समकालीन मुहावरे को लाने की कोशिशे हैं। यह सही है बहुत बार समकालीनता चालू जुमलेबाज़ी का रूप ले लेती है, काव्यात्मक सघनता और विडंबना (आयरनी) या नाटकीय व्यंजना कम होती है और भाषा में कार्य-व्यापार के रूपायन की बजाय वर्णनात्मकता बढ़ जाती है। पर दूसरी

ओर इनमें से अनेक नाटकों में शब्द बहुलता घटी है, गतियों और चर्चाओं से जुड़ने के कारण भापा में नाटकीय संक्षेप और एकाग्रता अधिक आ गई है।

नाटक रचना की दृष्टि से एक और बड़ी महत्त्वपूर्ण दिशा है सक्षम नाट्य रूप की तलाश। इस दौर में पहली बार व्यापक रूप से नाटक के तीन अंकी यथार्थवादी रूप को तोड़ने की कोशिश हुई है। ड्राइंग रूम या दूसरे परिचति प्रकार के कमरे या घरनुमा परिवेशों से हटकर अधिक उन्मुक्त, या प्रतीकात्मक-नाट्य स्थलों का उपयोग दीख पड़ा है। बृजमोहन शाह ने 'त्रिशंकु' का कार्य-व्यापार एक चौराहे पर, लक्ष्मीनारायण लाल के 'अब्दुला दीवाना' का अदालत के कमरे से घरों तक, मुद्राराक्षस के तिलचट्टा' का घर के एक कमरे से लगाकर जंगल तक, अमृतराय के 'हमलोग' में एक अंधेरे रेल के डिब्बे से लगाकर प्लेटफार्म तक चलता है। अनेक नाटकों में कार्य-व्यापार की तरलता और निरंतरता है, जो देश-काल की अन्वितियों को तोड़कर उनका एक अपना अलग नाटकीय आयाम तैयार करती है। इसके लिए अनेक अयथार्थवादी नाट्य-रूढ़ियों या युक्तियों का व्यवहार होने लगा है, सूत्रधार, कोरस, वाचक, टिप्पणीकार का उपयोग, पूर्वावलोकन (फ्लैशबैक), मुखौटों का व्यवहार, प्रतीकात्मक बिम्ब-योजना, आदि ये नवीनताएँ नाटक के रूप को लचीला बना रही हैं जिनसे नाटक के कल्पनाशील पक्ष को, उसके दृष्यकाव्यत्व को फिर से स्वीकृति मिल रही है।

नाट्य रूप की तलाश में वाक्-योजना और शब्द के कई रूपों का संयोजन भी कई नाटकों में दिखाई पड़ता है। जैसे मुद्राराक्षस के 'योर्स फ़ेथफुली', जगदीश चंद्र माथुर के 'पहला राजा' अथवा ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग' में रीतिबन्द्ध संवाद या पाठ, और हबीब तनवीर के 'आगरा बाजार' में गीतों का उपयोग। हिंदी नाटक में और भी पारंपरिक नाट्य-रूपों के सर्जनात्मक अन्वेषण का वैसा प्रयास नहीं दिखाई पड़ता जैसा कन्नड़ में चंद्रशेखर कम्बार के 'जी कुमारस्वामी' और गिरीश कारनाड के 'हयवदन' में, बंगला में बादल सरकार के 'सगीना महतो' और उत्पल दत्त के 'सूर्य शिकार' तथा दूसरे नाटकों में, या मराठी में विजय तेंदुलकर के 'घासीराम कोतवाल' में मिलता है। मगर कुछ मिलाकर हिंदी नाटककार नाट्यरूप की जांच-पड़ताल के बारे में सजग हो गया है और कई नई दिशाओं मे कोशिशें की जा रही है। यानी इस समय हिंदी नाटक के पूरे परिदृश्य में बड़ी हलचल और जीवंतता है। उसमें सक्रिय सर्जनशील प्रतिभा द्वारा सार्थक कुछ करने की छटपटाहट और तड़प भी है और अपने माध्यम को पहचानने तथा सीखने के लिए खुलापन भी। मगर यह सब अभी खोज के

स्तर पर ही है किसी बहुत उल्लेखनीय कृति के रूप में उसकी परिणति अभी नहीं दीख पड़ती। यह नहीं कि ये सब ताजा नाटक रंगमंच पर खेले नहीं गये और उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। उनमें जो एक न एक सार्थक नाट्य तत्त्व सक्रिय है उसका जरूरी तौर पर असर पड़ा और दर्शकों के बीच उन्हें स्वीकृति मिली। एक हद तक उन्होंने समकालीन ज़िंदगी की सचाई को भी पेश किया। पर फिर भी इस बात से इंकार करना कठिन है कि अभी तक ये नाटककार और नाटक रास्ते की तलाश को ही सूचित करते हैं, किसी ख़ास मंजिल तक पहुँचने को नहीं।

दरअसल, हिंदी नाटकों को पिछले दिनों में जो महत्त्व मिला है वह एक-दो अपवादों को छोड़कर, उनके अपने कारण नहीं, एक ऐतिहासिक संयोग से बल्कि हिंदी रंगमंच के अत्यंत सक्षम और समर्थ हो जाने के कारण है। यह समर्थ हिंदी रंगमंच देश के महानगरों में बना और पिछले दस वर्ष में श्यामानंद जालान, सत्यदेव दुबे, इब्राहिम अल्काजी, हबीब तनवीर, राजिंदरनाथ, व०ब० कारंत, वृजमोहन शाह, मोहन महर्षि जैसे निर्देशक आगे आये और उन्होंने उसे अपनी कल्पनाशीलता, सर्जनात्मक प्रतिभा और क्षमता से इतना समृद्ध बना दिया कि देश में किसी भी भाषा के रंगमंच के बराबर रक्खा जा सके। मगर यह मुख्यतः बंगला, मराठी, कन्नड़, गुजराती नाटकों के या फिर ब्रेश्ट, लोर्का, बैकट पिरांदेलो, सार्थ जैसे पश्चिमी नाटककारों की कृतियों के, हिंदी में अनुवादों के प्रदर्शन द्वारा पूरा हुआ। उसमें हिंदी नाटक का अपना योग उल्लेखनीय होने पर भी आंशिक और सीमित ही है।

आज के हिंदी रंगमंच की सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण घटना यह है कि वह देश भर के नाटकों का पारस्परिक विनिमय का माध्यम बन गया है। इस ऐतिहासिक भूमिका के कारण जो एक अखिल भारतीय नाटक-चक्र (रेपतुंआ) तैयार हुआ उसमें 'अंधायुग', 'आधे-अधूरे' और 'आषाढ़ का एक दिन' जैसे नाटकों का भी अपना अलग आस्वाद और योग है। इनके अलावा भी सुरेंद्र वर्मा का 'द्रौपदी' या ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'शुतुरमुर्ग' जैसे नाटक भी दूसरी भाषाओं में अनुदित होकर खेले गये। इस प्रकार बड़े पैमाने पर हिंदी के माध्यम से देश भर के नाटकों के बीच लेन-देन हो सका। हिंदी नाटक को इस भारतीय संदर्भ से देश भर के नाटकों के बीच पारस्परिक संघात से लाभ हुआ। इन विविध प्रभावों से हिंदी नाटक की जड़ता टूटी और उसमें एक नयी जीवंतता आयी।

यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है जिसे समझे बिना आज के हिंदी नाटक के रूप और उसकी दिशा को ठीक से नहीं समझा जा सकता। यह बात बहुत ही विचारणीय है कि केवल नाटक ही ऐसी सहित्यिक विधा है जिसमें

किसी हद तक पूरे भारतीय लेखन की एकसूत्रता है और हर भाषा का नाटक पारस्परिक प्रभाव के लिए खुला है। इस बात में नाटक अन्य सब विधाओं से एकदम भिन्न है। यह स्थिति हिंदी नाटक को एक ऐसा व्यापक फलक दे देती है कि हिंदी का अपना नाटक लेखन इतना कम और इतना हलका होते हुए भी, हिंदी रंगमंच और उसके परिणाम स्वरूप किसी हद तक हिंदी नाटक भी, इतना भरापूरा और विविधतापूर्ण तथा सक्षम जान पड़ता है। पूरे भारतीय नाटक के साथ यह साझेदारी हिंदी नाटक की महत्त्वपूर्ण परिस्थिति और दिशा है।

यह कहने का उद्देश्य आज के हिन्दी नाटक में मौजूद जीवंतता और सक्रियता को नकारना नहीं, बल्कि उसके सही परिप्रेक्ष्य को रेखांकित करना है। ज़रूरी बात यह है कि इन परिस्थितियों के कारण हिंदी नाटक अपने छोटे घेरों से निकल सका है और नयी ज़मीन तलाश रहा है। ऐसे अनेक रचनाकार हिंदी नाटक लिखने की कोशिश कर रहे हैं जिनमें पहले से स्वीकृत या चालू साहित्यिक मुद्राओं को अपनाने के बजाय अपनी सीधे अनुभव को, जिंदगी के साथ अपनी प्रतिबद्धता को रंगमंचीय रूप देने का आग्रह है। हिंदी नाटक की नयीं दिशाएँ इन्हीं प्रतिबद्धताओं से बन रही हैं।

❏❏❏

अप्रैल, १९७३ में 'नये नाटक की प्रवृत्तियाँ' शीर्षक से हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा आयोजित संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख।

वर्तमान संदर्भ में काव्य भाषा की समस्याएँ

डॉ० नामवर सिंह

वर्तमान संदर्भ में काव्य भाषा की समस्याओं पर विचार करते हुए कुल तीन परिवर्तन साही जी द्वारा स्वीकार किये गए हैं।

१. ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली

२. छायावाद के संदर्भ में।

३. प्रगतिशील कविता जब से शुरू हुई

परिवर्तन के तीन चरण जिस आधार पर माने गए हैं, मुझे ऐसा लगता है कि चौथे चरण को मानने की आवश्यकता है नई कविता के दौर में काव्यभाषा पर जो विचार हुआ है, ६२ के बाद के कवियों ने जैसी भाषा इस्तेमाल की है इससे लगता है कि उनकी समस्याएं वहीं नहीं हैं जो कि प्रयोगशील या प्रगतिशील कवियों के सामने थीं। उदाहरण के लिए आप धूमिल की भाषा-सम्बन्धी कविताओं को देखें और साथ ही अज्ञेय को तो पायेंगे कि दोनों में अंतर है। इस चौथे चरण को जबतक हम नहीं देखेंगे तब तक इस पर विचार नहीं कर सकेंगे।

संचार साधनों और पाश्चात्य प्रभावों की शर्तें उतनी नहीं है। दोनों चीजें जोड़ी जा सकती हैं। स्थिति यह है कि संचार साधनों के द्वारा भाषा विकृत होती है। यह निष्कर्ष भी चूँकि पश्चिम से लिया गया है अतः इसे भी पाश्चात्य प्रभावों से जोड़ा जा सकता है क्योंकि वहाँ भाषा पर टेलीविजन का प्रभाव घातक हो रहा है। स्थिति यह है कि एक ओर तो हम मानते हैं कि संचार साधनों की निरन्तर आवृत्ति से भाषा विकृत नहीं हुई है-निरंतर घिसते रहने से मुलम्मा छूट जाता है-अज्ञेय।' साही जी कहीं इससे जोड़ें तो संचार साधनों के माध्यम से प्रभाव का भी खंडन करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि संचार साधनों के माध्यम से भाषा विकृत नहीं होती। अखबार से भाषा विकृत नहीं हुई है। अखबारों के कारण हिंदी का गद्य का विकास हुआ है। दूसरी ओर कहते हैं कि संचार साधनों से मात्र कविता में विकृति आई है। जब हम रेडियो से विज्ञापन को बराबर सनते

रहते हैं तो यह भूल जाते हैं कि समाज व्यवस्था क्या है। नितान्त यांत्रिक ढंग से इस समस्या को नहीं सुलझाया जा सकता। संचार माध्यमों के द्वारा सारा दृश्य साहित्य इलेक्ट्रानिक उपकरणों से श्रव्य युग में प्रवेश कर रहा है और छपाई का जमाना खत्म हो रहा है। तारसप्तक के कवि कहते थे कि छापेखाने के कारण कविता प्रभावित हो रही है अर्थात् काव्यभाषा का सारा सिद्धान्त छापेखाने पर आधारित किया। यदि आप संचार साधनों के विकास को ध्यान में रखें और जब हम उसके द्वारा श्रव्यता के युग में पहुँचेंगे तो आप वैदिक युग की कल्पना कीजिए जहाँ जनसमूह श्रव्य साधनों से सरलता और सुगमता से पहुँच सकेगा। हमारे एक मित्र जो अफ्रीका से आये हैं बताया कि निरक्षता वहाँ अधिक है और उन्होंने हर अफ्रीकी आदमी के साथ ट्रांजिस्टर देखा। यानी निरक्षरता को दूर करने का उपाय वे रेडियो और टेलीविजन से पूरा कर रहे हैं। वहाँ छपे और लिखे चीजों का प्रचार बहुत कम है। जब देश में स्थिति और व्यवस्था होगी तो वे यहाँ कि निरक्षरता को दूर करने का ऐसा ही उपाय करेंगे। स्टूडियो से रेडियो कविता को निकाल कर एक ऐसे वातावरण में ला रहा है जहाँ वह श्रव्य हो रही है। अतः संचार साधनों की सुनी-सुनायी बातों के आधार पर आप अभिशाप न समझें, यह साधन कविता को मुक्त क्षेत्र में ला सकता है। युग आया नहीं। आपको सातवें दशक के कवियों में दुर्बोधता नहीं मिलेगी। संचार साधान का परोक्ष प्रभाव एक नये वातावरण की सृष्टि कर रहा है। सोवियत संघ में भी नई क्रान्ति आई और वहाँ कविता श्रव्य रूप में जीवित हो रही है। यह परिवर्तन विश्व के पैमाने पर हो रहा है।

पाश्चात्य प्रभाव के बारे में साही जी ने कहा कि पाश्चात्य प्रेम के कारण एक द्विभाषिक प्रभाव और खाई आयी है। पाश्चात्य प्रभाव जिसे उन्होंने 'हिंग्रजी' कहा है वे दो तरह के प्रभाव हैं। अतिरेक में छायावाद और प्रयोगशील दोनों बुरे हैं। इस सामान्य विषय को वस्तुतः अपवादों को लेकर विचारा जा रहा है। मैथिलीशरण गुप्त अलग भाषा में लिखते रहे। अज्ञेय ने उनकी भाषा को प्रमाण दिया कि यह उस कवि की भाषा है जो अंग्रेजी बिल्कुल नहीं जानता। कोई द्विभाषी प्रभाव उन पर नहीं है। उनकी भाषा को देखें तो उनकी कविता में संस्कृत के अप्रचलित शब्दों का प्रयोग आपको मिलेगा। आख़िर उन पर कैसा या कौन-सा दबाव या प्रभाव था ?

हिंदी भाषा की प्रवृत्ति पर विचार करते समय उसकी स्वायत्त गति पर भी विचार करना चाहिए। क्या किसी दबाव से सूर, तुलसी ग्रस्त नहीं थे ? तुलसी ने स्वयं संस्कृत का दबाव महसूस किया। मंगलाचरण के रूप में उन्होंने संस्कृत को अपनाया। विनय-पत्रिका में यह दबाव देखते बनता है। दबाव तो था ही। और दबाव तो सब के साथ रहता है। मेरा निवेदन

है कि पाश्चात्य प्रभाव को आप केवल एक द्विभाषिक प्रभाव के रूप में न ग्रहण करें, यह भी देखें कि इसकी सीमा क्या थी। किस वर्ग तक इसका प्रभाव था। १६४८ के पहले के और बाद के कवियों में यह दबाव कहाँ तक है।

काव्यभाषा में द्विभाषी प्रभाव एक परंपरागत साहित्यिक वर्ग के कारण आया। ३६ के बाद अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त वर्ग जो इस क्षेत्र में आया वह हिंदी से परिचित नहीं था। उदाहरण के लिए प्रसाद और अज्ञेय को देखें तो अज्ञेय पर द्विभाषी प्रभाव है लेकिन प्रसाद पर नहीं है। छायावादी कविता में एक ही संस्कृति शब्द को जब प्रसाद इस्तेमाल करते हैं और उसी को मैथिलीशरण गुप्त भी द्विभाषी प्रभाव से उसका अर्थ क्षीण नहीं होता। मेरा ख्याल है साही जी पुनः इस पर विचार करेंगे। ३६-३८ के करीब साहित्य में नई विचारधारा आई थी। वस्तुतः राष्ट्रीय आन्दोलन में जो जन-उभार था उसके कारण एक दबाव आया-वह था साम्राज्य और सामंतवादी व्यवस्था का विरोध। इस कारण प्रगतिशील कवि बहुत मुखर था। ४७ में आजादी के बाद संपूर्ण साहित्य की गति आंचलिकता से प्रभावित हुई। आजादी के बाद लोग लोक जीवन की ओर मुड़ गए। यह जनतंत्र का दबाव था। इसी कारण यह ठेठपन आया। ६२ के बाद की कविता जिस ठेठपन की ओर बढ़ी उसका एक राजनीतिक कारण था। नई कविता में राजनीतिक प्रतिक्रिया थी। वर्जित शब्दों का प्रयोग किया गया। शाम कविता में गिरिजाकुमार माथुर ने हिंदुस्तानी शब्दों को अपनाया, राजकमल चौधरी ने भी बहुत सी कविताएँ लिखीं। यह कहना कि यह सब पाश्चात्य से प्रभावित होकर ऐसा किये या कर रहे हैं, उचित नहीं है। रामस्वरूप जी भी भाषा के सरलीकरण के आतंक से ग्रस्त हैं। नई कविता के सरलीकरण से भी वे घबराते हैं दुर्बोध बना देना वे गुण मानते हैं। होता ही है कि बहुत से प्रकरण में आत्मसजगता ईमानदारी बन जाती है किंतु यह आवश्यक नहीं है। कभी-कभी अमूर्तिकरण ही गुण हो जाता है। यह कहना कि नये कवि अति सरलीकरण की ओर बढ़ रहे हैं और व्यावसायिक हो रहे हैं। इस संदर्भ में मैं इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि नीरज में धूमिल से अधिक सरलता है। सरलता के भी कई अर्थ होते हैं। बाइबिल की भी एक सरलता है, रामचरित मानस की भी एक सरलता हैं यहाँ श्रीकान्त वर्मा की एक कविता का उदाहरण दे रहा हूँ जो नितान्त सरल है :

मैं दुःखी हो रहा हूँ
मैं सुखी हो रहा हूँ
मैं दुःखी और सुखी हो रहा हूँ

मैं न जाने किस कन्दरा में जाकर
हो रहा हूँ। हो रहा हूँ। हो रहा हूँ।

क्या यह अनुभव अति सरलीकृत किया गया है ? इसलिए समकालीन कविता के बारे में यह कहना उचित नहीं है। काव्य भाषा के व्यावहारिक पक्ष को निर्मला जैन ने उठाया था। गद्य को सूचनात्मक मानते हैं और पद्य को अनुभूतियों और राग से जुड़ा हुआ। किंतु गद्य भी उतना ही सायास निर्मित होता है जितना पद्य। कामकाज की भाषा ही बुनियाद है और वही काव्यभाषा की भी बुनियाद है सृजनशीलता कविता का धर्म नहीं है बल्कि सृजनशीलता मनुष्य का धर्म है। प्रत्येक बोलने वाला अपनी भाषा का कवि है। लोक कवियों ने कोई भाषा या व्याकरण नहीं पढ़ा अब उनका मूल्यांकन हम कैसे करेंगे। इसलिए बोलचाल की भाषा को नकारा नहीं जा सकता।

❏❏❏

मार्च १९७३ में 'वर्तमान युग में काव्यभाषा की समस्याएँ' विषय पर हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा आयोजित संगोष्ठी में व्यक्त किये गये विचार

बोलचाल और संप्रेषण
संदर्भ समकालीन कविता

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

आधुनिक युग में खड़ीबोली में काव्यभाषा की रचनात्मक संभावना और समस्या छायावाद-युग से आरंभ होती है। इसके पहले भाषा को व्याकरणिक शुद्धता और प्रतिमानीकरण चिंता का विषय रहा। छायावादी कवियों में कुछ तो पुनर्जागरणकालीन संस्कृत-चेष्टा के कारण और कुछ काव्यभाषा की अपनी आंतरिक ज़रूरतों की वजह से आरंभिक रचना काल में संस्कृत की तत्सम पदावली की प्रधानता रही। संस्कृत पदावली पर आधारित काव्य भाषा में परंपरागत प्रतिष्ठा थी, और बनी-बनाई अर्थ-छायाओं की सुविधा थी। पर स्पष्ट ही भाषा का यह रूप बोलचाल से दूर था, और सच तो यह है कि उस समय तक खड़ी बोली स्वयं हिंदी क्षेत्र में व्यापक तौर पर बोलचाल का रूप धारण भी नहीं कर पाई थी। उर्दू की स्थिति कविता और बोलचाल दोनों में थी। पर हिंदी में ये दोनों प्रक्रियाएँ दो स्तरों पर बँटी हुई थीं-बोलचाल के लिए बोलियाँ-खड़ीबोली, ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि और काव्यभाषा के लिए खड़ीबोली हिंदी यानी आज की परिनिष्ठित हिंदी। यह द्वैत हिंदी क्षेत्र की एक बहुत बड़ी शक्ति भी है, पर इससे कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी उपजती रही है।

छायावादी कवियों को भी यह द्वैत कुछ समय के बाद एक चुनौती लगने लगी। प्रसाद की मृत्यु अपेक्षाकृत जल्दी हो गई थी, और महादेवी ने एक अवधि के बाद कविता के क्षेत्र में सक्रिय कार्य छोड़-सा दिया। निराला और सुमित्रानंदन पंत अपने-अपने ढंग से इस समस्या से जूझते रहे कि काव्यभाषा को बोलचाल के आधार पर कैसे लाया जाए। दोनों का उत्तर-काव्य इस कोशिश का अच्छा प्रमाण है। इसके पहले आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का प्रयत्न था कि कविता में भी गद्य का वाक्य-विन्यास रहना

चाहिए, यह स्पष्ट ही व्याकरण की चिंता थी। निराला और पंत की समस्या आगे बढ़कर रचना की थी, बोलचाल को कविता में संप्रेषण का आधार बनाने की थी। निराला की 'कुकुरमुत्ता', नये 'नये पत्ते' में संकलित कविताओं में ठेठ बोलचाल का प्रयोग है, यह दूसरी बात है कि सभी कविताएँ समान रचना-स्तर पर संघठित न हो पाई हों। छंद-योजना के साथ-साथ निराला ने काव्यभाषा की प्रक्रिया में जो प्रयोग किए हैं उनका महत्त्व ऐतिहासिक न होकर-वह अपनी जगह है-वस्तुगत है। इस दृष्टि से यह स्वाभाविक है कि नयी कविता की कुछ महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों का बीज-रूप निराला में मिलता है। क्लासिक, रोमांटिक, नयी कविता-आधुनिक कविता की धारा जैसे संपूर्णतः उनके व्यक्तित्व में से प्रवहमान हुई हो, भाषा और संवेदना दोनों स्तरों पर।

छायावादी के आरंभिक युग के बाद से ही उस समय के कुछ अन्य अपेक्षया तरुण कवियों में काव्यभाषा को बोलचाल के निकट लाने की आकुलता देखी जा सकती हैं बच्चन, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा के रचनात्मक प्रयास अधिकतर इस धरातल पर थे। बच्चन की भाषा की खानगी एक पूरे युग पर छाई रही। विजयदेवनारायण साही जब इन्हें 'जवानी का कवि' कहते हैं तो उनका पर्यवेक्षण इन कवियों की भाषा में निहित अनौपचारिकता और आत्मीयता से संपुष्ट होता है। यह अनौपचारिकता-आत्मीयता सिर्फ शब्दावली नहीं भाषा की समूची भंगिमा में थी, 'मधुशाला' के मुक्तकों में, 'मधुकलश' से लेकर 'एकांत संगीत' की लंबी कविताओं और छोटे गीतों में। 'बच्चन' जैसा घरेलू पुकार का सामान्य नाम आधुनिक हिंदी कविता का एक शिष्ट-संभ्रात नाम हो गया, यह अपने में एक रोचक इतिहास लगता है।

अज्ञेय काल-क्रम की दृष्टि से इन कवियों के समकालीन हैं, पर संवेदना की दृष्टि से अग्रणी। अज्ञेय की आरंभिक कविताओं में काव्यभाषा के कई स्तर मिले-जुले दिखते हैं। पर 'हरी घास पर क्षण भर' में, जहाँ उनका कवि-रूप बन चुका होता है, संस्कृतनिष्ठ शब्दावली और बोल-चाल दोनों का एक दूसरे से संपर्क होता है, और इन दो स्तरों की टकराहट में नयी रचना-ऊर्जा विमुक्त होती है। अज्ञेय में उन्मुखता क्रमशः तद्भव-देशज की ओर बढ़ती है, पर संस्कृतनिष्ठ, संस्कारी भाषा आधार-रूप में बनी रहती है। 'बावरा अहेरी' की पहली और अज्ञेय की प्रसिद्ध कविता है 'आज तुम शब्द न दो'-

> तुम पर्वत हो अभ्र भेदी शिला-खण्डों के गरिष्ठ पुंज
> चाँप इस निर्झर को रहो, रहो
> तुम्हारे रंध्र-रंध्र से

तुम्हारे को रस देता हुआ
फूट कर मैं बहूँगा।

उद्धृत कविता की वस्तु इस निबन्ध की विवेच्य समस्या से सीधे संबद्ध है, यह एक संयोगभर हो सकता है, पर तत्सम-तद्भव की टकराहट का जिसका अभी जिक्र किया गया, यहाँ अच्छा उदाहरण देखने को मिलता है। बोलचाल का सामान्य प्रयोग समाज में संदेश-प्रेषण के लिए होता है, पर यहाँ उसे कविता में अनुभव-संप्रेषण का आधार बनाने की एक छोटी पर मूल्यवान कोशिश देखी जा सकती है। कविता के इस अंश का विधान अधिकतर तत्सम नाम से हुआ है ('पर्वत', 'अभ्र-भेदी', 'शिला खण्डों', 'गरिष्ठ पुंज', 'निर्झर', 'रंध्र'), पर उनके बीच में बोलचाल का 'चाँप' और 'रहो' जैसे समूचे अनुभव को एक गति देता है। तत्समों के बीच तद्भव या देशज प्रयोग डालकर उनके स्थिर अर्थों को एकाएक गतिशील कर देना उत्तर कालीन अज्ञेय की एक प्रमुख विशेषता है। यहाँ यह भी देखा जा सकता है कि कवि अपनी सामान्य आधार-भाषा का रूप तत्सम संज्ञाओं से बनाता है और धीमे से उनके बीच तद्भव क्रिया-रूप रख देता है, जो अर्थ की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को परिचालित कर दे। संज्ञा शब्द खास तौर से प्रतीक या बिंब-विधान में आधार होते हैं। पर जब कवि उनका विधान न कर रहा हो, तब तद्भव क्रिया या छोटे अव्यय शब्द अनुभव को दूर तक रूपायित करते हैं। अज्ञेय की एक अन्य प्रसिद्ध कविता 'जितना तुम्हारा सच है' की कछ पक्तियाँ उद्धृत हैं-

दीठ से टोहकर नहीं, मन के उन्मेष से
उसे जानो : उसे पकड़ो मत।
उसी के हो लो।

साक्षात्कार की चरम प्रक्रिया के संदर्भ में यहाँ दो प्रयोग आते हैं-'मन के उन्मेष' तथा 'उसी के हो लो'। तत्सम और तद्भव का आमना सामना इस रूप में खूब अच्छी तरह देखा जा सकता है, और यह भी समझा जा सकता है कि अनुभव की असली पकड़ बोलचाल के सामान्य प्रयोग 'उसी के हो लो' में है। इतनी संक्षिप्त-सामान्य-सी बोलचाल की क्रिया 'हो लो' यथार्थ के गहरे-से-गहरे साक्षात्कार को संभव और संप्रेषित करती है, जिस प्रक्रिया की पहिचान के लिए समीक्षक यहाँ अच्छे खासे भारी-भरकम शब्द प्रयुक्त कर रहा है।

भाषा का ऐसा संस्कारी प्रयोग और तत्सम-तद्भव की टकराहट अज्ञेय बहुत सीमा तक निराला से ग्रहण करते जान पड़ते हैं। हाँ, निराला की उत्तरकालीन भाषा, जो सामान्य जन-जीवन जैसी ही अनलंकृत और ठेठ है, अज्ञेय के लिए बहुत काम की नहीं हो पाती। इस साहसिक

भाषा-रूप का संस्कार नयी कविता में उतरता है, पर फिर भी उतने बेलौस और खड़खड़े रूप में नहीं। नयी कविता में बोलचाल पहले जैसी मुखर और प्रखर न होकर अब अपेक्षया प्रशमित है। रघुबीर सहाय के संकलन 'सीढ़ियों पर धूप में' की भूमिका में अज्ञेय लिखते हैं 'क्योंकि काव्य के जो भी गुण बताये जाते या बताये जा सकते हैं अंततोगत्वा भाषा के ही गुण हैं। पर सैद्धान्तिक आग्रह के द्वारा पाठक को लक्ष्य-विमुख न करे फिर कहूँ कि रघुवीर सहाय की भाषा, आधुनिक हिंदी के काव्य की दृष्टि से सफल और प्रभविष्णु उपयोग का अच्छा उदाहरण है। अपने छायावादी समवयस्कों के बीच 'बच्चन' की भाषा जैसे एक अलग आस्वाद रखती थी और शिखरों की ओर न ताक कर शहर के चौक की ओर उन्मुख थी, उसी प्रकार उपने विभिन्न मतवादी समवयस्कों के बीच रघुवीरसहाय भी चट्टानों पर चढ़ नाटकीय मुद्रा में बैठने का मोह छोड़ साधारण घरों की सीढ़ियों पर धूप में बैठकर प्रसन्न हैं।' रघुवीरसहाय की इन आरंभिक कविताओं की भाषा के प्रसंग में यदि अज्ञेय को बच्चन की 'शहर के चौक की ओर उन्मुख' बोलचाल याद हो आए तो स्वाभाविक है, पर यह ध्यान रखना होगा कि यह सादृश्य बहुत सीमित रूप में ही है। बोलचाल का संस्कार दोनों कवियों में एक जैसा हो, यह एक बात है, पर उस बोलचाल का कौन कवि किस रूप में रचनात्मक प्रयोग करता है, यह दूसरी, और अधिक महत्त्वपूर्ण बात है। बच्चन की भाषा बहुत दूर तक इतिवृत्तात्मक और मुहावरे से परिचालित होने वाली है, रघुवीरसहाय बोलचाल को लेकर उसमें बिंब रचते हैं, जो संप्रेक्षण का नहीं अधिक दक्ष पर उतना ही मुश्किल ढंग है। 'सीढ़ियों पर धूप में' की एक कविता है धूप, उसके बीच का अंश है-

> कितने सही हैं ये गुलाब
> कुछ कसे हुए और कुछ झरने-झरने को
> और हल्की सी हवा में और भी, जोखम से
> निखर गया है उनका रूप जो झरने को है।

बच्चन के लिए इतने मितकथन से संतुष्ट हो पाना संभव न था। हिंदी के सबसे अधिक प्रचलित, तिरस्कृत, उपेक्षित अव्यय समुच्चयबोधक 'और' का इतना रचनात्मक प्रयोग अन्यत्र मिलना कठिन है, जिसकी अनेक अर्थ-छायाओं (जी हाँ, अव्यय की अर्थ-छायाओं !) का विकास रघुवीरसहाय ने आगे चलकर भी किया है, और जिसे फिर नयी कविता के कई कवियों ने अपने-अपने ढंग से दुहराया है। सब से बड़ी बात तो यह है कि यहाँ बोलचाल के सीधे से वर्णन में कवि बिंब की एक छवि दे रहा है, वर्णन और बिंब एक दूसरे में जैसे घुल-मिल गए हों। बोलचाल का संप्रेषण के लिए यह प्रयोग नयी मुहाविरों की भंगिमा से परिचाालित होती रही है, पर यहाँ

बोलचाल बिना किसी बाहरी प्रक्षेप के सामान्य वर्णन में ही, प्रस्तुत-अप्रस्तुत के द्वैत से ऊपर उठकर बिंब की झलक देती है।

रचनात्मक स्तर पर बिंब-विधान के कुछ नये रूप रघुवीरसहाय की कविताओं में विकसित हुए हैं। अपनी भाषा के रचाव में उन्होंने वर्णन और बिंब के भेद को क्रमशः मिटाया है। कविता की भाषा को सही अर्थ में बोलचाल और अख़बार की भाषा से संबद्ध करने में वर्णन और बिंब का अंतर डूब जाए, यह स्वाभाविक है। इस प्रक्रिया में सामान्य भाषा की रचनात्मक क्षमता का बिल्कुल नया और प्रीतिकर अहसास कवि के नये संकलन "आत्महत्या के विरुद्ध" की कविताओं में होता है, वे कविताएँ चाहे राजनीति के अनुभव-क्षेत्र से संबद्ध हों या कि प्रेम के अनुभव-क्षेत्र से अथवा प्रकृति के मानवीय चित्र हों। रघुवीरसहाय की कविताओं में वर्णन-बिंब का अभेद कैसे संभव होता है, यह समझने के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं-

सिंहासन ऊँचा है सभाध्यक्ष छोटा है
अगणित पिताओं के
एक परिवार के
मुँह बाये बैठे हैं लड़के सरकार के
लूले काने बहरे विविध प्रकार के
हल्की-सी दुर्गन्ध से भर गया है सभाकक्ष।

(मेरा प्रतिनिधि)

एक गरीबी, ऊबी, पीली, रोशनी, बीबी
रोशनी, धुंध, जाला, यमन, हरमुनियम अदृश्य
डब्बाबंद शोर
गाती गला भींच आकाशवाणी
अंत में टडँग

(आत्महत्या के विरुद्ध)

पहले उद्धरण में किसी सामान्य सभाकक्ष का वर्णन भी है और किसी विशिष्ट सभाकक्ष का बिंब भी है। उन्हीं पंक्तियों में वर्णन और बिंब के स्तरों की टकराहट अर्थ को असाधारण विस्तार देती है। दूसरे वर्णन बिंब में निम्नमध्यवर्गीय गृहस्थ जीवन का चित्र है, जो एक छोटे से कमरे का वर्णन है, पर ऐसे न जाने कितने कमरों के लिए बिंब-रूप में सक्रिय होता है। यह प्रक्रिया संभव होती है कविता में बोलचाल की भाषा के प्रयोग के कारण, जो रचना को विशिष्ट बनाते हुए भी उसे सच्चे मन से प्रजातांत्रिक रखती है। वर्णन और बिंब, प्रजातांत्रिक और विशिष्ट को एक साथ समाने में रघुवीरसहाय की कविताओं का रूप साधारण अर्थ और

अनुभव को एक विराटता देता है, उनकी कविताओं में बहुप्रयुक्त शब्द "लोग"- "लोग लोग चारों तरफ हैं मार तमाम लोग"-में ये दोनों (तथा अन्य भी !) व्यंजनाएँ साथ-साथ चलती हैं। छोटी कविताओं के विधान में यह प्रक्रिया कुछ भिन्न और सुकुमार ढंग से समझी जा सकती है-

बच्चा गोद में लिए
चलती बस में
चढ़ती स्त्री
और मुझमें कुछ दूर तक घिसटता जाता हुआ।

(चढ़ती स्त्री)

प्रार्थना में नमित रहकर
ज़रूरत भर
जब
सिर उठाया
तब
सुबह हो गई
डाल पर ठहरा हुआ है खिंचा फूल गुलाब का।

(खिंचा गुलाब)

इन कविताओं का विधान जापानी "हाइकूँ" का स्मरण दिला सकता है, और तब अनायास ही ध्यान जाता है कि जापानी भाषा की वर्णमाला और उसकी चित्रलिपि एक दूसरे में कैसे घुलमिल गए होंगें। इन कविताओं में वर्णन और बिंब का अभेद, अद्वैत बहुत-कुछ उसकी समानांतर प्रक्रिया जैसा है।

भाषा का विवेचन करते समय शिष्ट उच्चारण का मानदण्ड माना जाता है कि बोलते समय यह अनुमान न लगाया जा सके कि वक्ता भाषाक्षेत्र के प्रदेश से संबद्ध है। कुछ ऐसी ही कसौटी बोलचाल के परिनिष्ठत रूप में संबंध में स्वीकार की जा सकती है। बोलचाल की स्वभावतः अनेक शैलियाँ हो सकती हैं-पुराने नामों को ले तो पंडिताऊ शैली, मुंशी शैली, बाजारू शैली आदि। पर यदि हम कहें कि बोलचाल वही परिनिष्ठित है जिसके बोलने वाले या लिखने वाले का क्षेत्र या वर्ग ज्ञात न हो सके तो शायद हम वस्तुस्थिति से दूर न होंगे। इस दृष्टि से समकालीन कविता में रघुवीरसहाय और विपिन आदर्श कहे जा सकते हैं, जहाँ तद्भवता और देसीपन न किसी प्रतिक्रिया में है और न किसी आवेश में, वह सिर्फ है, और उसका होना अपने में पर्याप्त है।

यों विभिन्न व्यवसाय-क्षेत्रों में अभी हिंदी की बोलचाल की भाषा बनना है-डॉक्टर, इंजीनियर, रसायन शास्त्री, अर्थशास्त्री आदि के क्षेत्रों में।

इन अंतःसंपर्कों से भाषा का रूप स्पष्ट ही अधिक अर्थ-संपन्न होगा, उसमें अनेक नयी भंगिमाएँ विकसित होंगी। भाषा की अर्थ शक्ति और समृद्धि शब्द-समूह के आकार और संख्या पर उतनी निर्भर नहीं, जितनी की शब्दों की अनेक भंगिमाओं पर निर्भर होती है, अंग्रेजी जिस स्तर पर आज समृद्ध भाषा कही जा सकती है। समकालीन कविता में शिष्ट-परिनिष्ठित भाषा और बोलचाल की अंतर्प्रक्रिया एक स्तर पर चल रही है, बोलचाल के अपने विविध क्षेत्रों की अंतर्प्रक्रिया की अभी शुरुआत ही है।

परिनिष्ठित भाषा और बोलचाल की अंतर्प्रक्रिया का एक अच्छा उदाहरण युवा कवि धूमिल का नया संकलन "संसद से सड़क तक" है, जिसका शीर्षक भी अपने ढंग से इस रचना समस्या को व्यंजित करता है। धूमिल में बल, भाषा के सीधे सपाट रूप पर है, उनके यहाँ तीखे मुहाविरे बनते हैं, सूक्ष्म-जटिल बिंब नहीं। भाषा का सामान्य रूप अधिकतर इतिवृत्तात्मक चलता है-

सच कहता हूँ-उस समय
राँपी की मूठ को हाथ में संभालना
मुश्किल हो जाता है
आँख कहीं जाती है
हाथ कहीं जाता है
मन किसी झुँझलाए हुए बच्चे-सा
काम पर आने से बार-बार इनकार करता है
लगता है कि चमड़े की शराफ़त के पीछे
कोई जंगल है जो आदमी पर
पेड़ से वार करता है

(मोचीराम)

तुकों से युक्त ऐसे ठोस गद्य के बीच से कहीं-कहीं नये गढ़े हुए प्रयोग और मुहाविरे चमकते हैं-'गर्भ-गद्‌गद्', 'बनिया-सच्चाई', 'शब्द-वृक्ष पत्तों', 'कविता पेट से सुनी जा रही है आदमी गज़ल नहीं गा रहा है गज़ल आदमी को गा रही है', 'स्नानघाट पर जाता हुआ हर रास्ता देह की मंडी से होकर गुजरता है, 'यदि पड़ोस की महिला का एक बटन तुम्हारी बीबी के ब्लाउज से (कीमत में) बड़ा है।' ऐसे प्रयोग और मुहाविरे पाठक का ध्यान आकर्षित करते हैं, पर इससे अधिक भी कुछ कर पाते हैं, यह संदिग्ध है। कविता के इस रूप में मध्यकालीन नीति-काव्य जैसे तीव्र पर्यवेक्षण हैं, पर अनुभव की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया नहीं है। युवा लेखन में धूमिल और लीलाधर जगूड़ी कुछ उसी तरह अज्ञेय मुक्तिबोध शमशेर-रघुवीरसहाय की काव्यभाषा को सरल कर रहे हैं, जैसे प्रसाद और

निराला के बाद बच्चन नगेन्द्र ने छायावाद की काव्यभाषा को आसान बनाया था।

यहाँ यह कहना होगा कि युवा कवियों में भाषा की आंतरिक क्षमता के प्रति सजगता पूरी है। वे भाषा की विविध-प्रक्रियाओं और सीमाओं की ओर बार-बार संकेत करते हैं-"तुम्हारी मातृभाषा उस महरी की तरह हैं", "भाषा को हीकते हुए अपने भीतर", "कविता-भाषा में आदमी होने की तमीज़ है।" "जहाँ भूख सबसे पहले भाषा को खाती हैं" (धूमिल), "भाषा के जमे हुए पानी में सुराख बनाते हुए", "और हर वक्त आदमी इसमें उतना नहीं रहता जितना अपनी भाषा में रहता है," 'वह घड़घड़ाने की भाषा में बहुत से नाम लेता है', (लीलाधर जगूड़ी)। धूमिल की तो एक लंबी कविता 'भाषा की रात' इस विषय-वस्तु से सीधे सही संबद्ध हैं। पर भाषा-प्रक्रिया के प्रति यह सजगता जितनी आवेगात्मक है, उतनी रचनात्मक नहीं। बोलचाल का जिस रूप में ये कवि प्रयोग करते हैं, वह अपने में इसका एक साक्ष्य है। धूमिल की एक कविता है 'कवि १९७०।' इसका कुछ अंश प्रस्तुत है-

कविता में जाने से पहले
मैं आपसे हीं पूछता हूँ
जब इससे न चोली बन सकती है
न चोंगा,
तब आपै कहीं-
इस ससुरी कविता को
जंगल से जनता तक
ढोने से क्या होगा ?
आपै जवाब दो
मैं इसका क्या करूँ ?

यहाँ व्यंग इतनी दूर तक खिंच गया है कि सारी स्थिति की विडंबना के प्रति किसी सहानुभूति के बजाय अगंभीरता ही उभरती है। 'आपै' से लेकर 'ससुरी' तक बोलचाल की भंगिमा यहाँ स्वयं बोलचाल की प्रक्रिया से बाहर होने के कारण कुछ बहुत साहसिक नहीं लगती, और अपनी अगंभीर मुद्रा में कविता भी नहीं बन पाती। बोलचाल यहाँ संप्रेषण न होकर एक मज़ेदार उक्ति-भर रह जाती है। कवि : १९७० का प्रश्न "मैं इसका क्या करूँ ?" फिर अनुत्तरित ही छूट जाता है, या कि लगता है कि उत्तर की वस्तुतः अपेक्षा ही नहीं है।

यह भी संभव है कि कविता की पहिचान में ही इधर अंतर हुआ है। कविता अधिकांश युवा लेखन में अब 'अभिव्यक्ति' के बजाय, या पहले

'वक्तव्य' मानी जा रही है। (द्र० मुखबंध 'संसद से सड़क तक')। ऐसी स्थिति में स्वभावतः उसमें वक्तृव्य पर बल अधिकर होगा और बोलचाल तब कविता न बनकर आसानी से वक्तृता हो जाएगी। 'अकविता' के लेखकों ने अभिव्यक्ति की सिधाई की माँग की थी। अब धूमिल 'सही कविता' को पहले 'एक सार्थक वक्तव्य' घोषित कर रहे हैं। वे यह भूले रहे हैं कि नारेबाजी और संचार-माध्यमों की भरपूर सुविधा के इस युग में वक्तव्य को भी सार्थक बनाए रखने के लिए कविता की रचनात्मक क्षमता अपेक्षित है।" सार्थक वक्तव्य और 'सही कविता', यानी बोलचाल और संप्रेषण एक अंतर प्रक्रिया है, पर प्राथमिकता की दृष्टि से भाषा-मात्र को सार्थक रखने के लिए वक्तव्य के बजाय आज 'कविता' की अधिक ज़रूरत है।

बोलचाल में कविता की रचना सब से कठिन है, क्योंकि तक शब्द-प्रयोग (महज़ शब्द नहीं) साधारण बोलचाल और कविता-संप्रेषण दोनों क्षेत्रों को एक साथ संपर्क करते रहेंगे। संश्लिष्ट अनुभव और अर्थ-स्तरों की विवृति परिनिष्ठित काव्यभाषा में होती है। जब शब्दावली रोज़मर्रा की होगी, बोलचाल होगी, तब उसे काव्यभाषा और सामान्य भाषा एक साथ होना होगा। उर्दू काव्यभाषा में बाज़ार और दरबार दोनों एक दूसरे के लिपटे रहे हैं। पर अपने प्रयोग में सीधी-साफ़ होने के कारण वहाँ अर्थ-संश्लेष हल्के मुहाविरे से बनता है, हिंदी की तरह सूक्ष्म बिंब से नहीं। युवा लेखन में उर्दू काव्यभाषा की बेलाग सफ़ाई आई है, पर क्रिया रूपों और अव्ययों की वैसी गहरी समझ न रहने के कारण चामत्कारिक उक्तियाँ अधिक बनी हैं, अनुभूति-प्रवणता उतनी विकसित नहीं हो पाई। धूमिल की तरह जगूड़ी ने भी नई उक्तियाँ खूब गढ़ी हैं', 'लगातार अपनी ऐसी की तैसी और कविता दोनों करता रहा।' ऐसी नयी उक्तियाँ या पूरे मुहाविरे पुराने अलंकारों की तरह काव्यभाषा में अलग से चमकते रहते हैं, वे समूचे संश्लिष्ट और अनुभव का अंग बनकर भाषा में समरस नहीं हो पाते। तुको से खिलवाड़ भी अंगभीरता और चामत्कारिता को ही बढ़ाता है-

न विद्रोह। न युद्ध। न शासन
कुछ नहीं मिल पा रहा है
न धंधा। न चंदा। न राशन

(इस व्यवस्था में : लीलाधर जगूड़ी)

कुछ घटित न हो पाने की गहरी बेचैनी यहाँ नहीं झलकती, क्योंकि इतना अतिकथन व्यंग को फैलाकर मज़ाक में परिणत कर देता है। इसी तरह की एक खिलवाड़ और देखा जाए-

भाषा के पीछे शब्दों को दौड़ाता रहता हूँ

साँड की तरह
कर्म मैं भी करता हूँ
काण्ड की तरह

(नाटक जारी है : लीलाधर जगूड़ी)

इस तरह की उक्तियाँ, मुहाविरे और तुक मिलकर कहीं-कहीं तो सीधे नारे बन जाते हैं, जो वक्तृत्व की चरम नियति है-

चारों ओर जो शोर है
इसका जो भी मतलब हो। इस अवस्था में
हर आदमी कहीं न कहीं-चोर है

(इस व्यवस्था में : लीलाधर जगूड़ी)

नई कविता में रघुवीरसहाय ने अख़बार में जो कविता रचने की कोशिश की थी, वह जैसे उलट गई है। युवा लेखन कविता को अख़बार की तरह सनसनीखेज़ और असंवेदनशील बनाना चाहता है। स्त्री का एक चीज़ के रूप में वर्णन इसी दृष्टि का परिणाम है। अखबार में सीधी भाषा और मुहाविरे अर्थ को बाँधते हैं, उन्मुक्त नहीं करते। युवा लेखन में स्त्री को जैसे तिरस्कृत किया गया है, वह बड़े-बड़े कट्टरों, प्यूरिटनों के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकता है-

सूखा। बाढ़ और जाड़ा। इन सब से ज्यादा
बीबियों ने इस देश का समाजवाद बिगाड़ा

(घर सँभालते हुए : लीलाधर जगूड़ी)

'युवा लेखकों में समाजवाद के लोकप्रिय प्रवक्ता और द्रौपदी के चरित्र के प्रसिद्ध व्याख्याता राममनोहर लोहिया इस संदर्भ में समाजवाद का पक्ष लेते या बीबियों का, यह सोच पाना सचमुच कठिन है। काव्यभाषा की चर्चा के प्रसंग में कहा जा सकता है कि ऐसी अनेक कविताओं के वर्णन भाषा को भ्रष्ट और अनुभव को जड़ करते हैं। इससे तो सीधे 'पोर्नोग्राफ़ी' अच्छी है, क्योंकि वह सोद्देश्य और निडर है, और भाषा के स्रोतों को विकृत नहीं करती।

युवा लेखन के संबंध में ऐसा लिखना और सोचना निश्चय ही अप्रिय है, क्योंकि वह एक रूप में अपने विकास को नकारना है। यह तब और अटपटा लगता है, जब हम देखते है कि एक रचना-पीढ़ी जो भाषा की क्षमता के प्रति इतनी सजग है, फिर भी इतनी अगंभीर है। नई कविता की काव्यभाषा के स्तर पर एक बड़ी उपलब्धि यह रही कि उसने बोलचाल को बिंब में संक्रमित किया। सामान्य बोलचाल के मुहाविरें में अर्थ एक उथ्कत होकर वहीं खत्म हो जाता है। बिंब में अर्थ गूँज-अगूँज चलती रहती है। कविता में सपाटबयानी की प्रक्रिया इस दृष्टि से बहुत कठिन है।

समकालीन कविता में रघुवीरसहाय के बाद भाषा के सरलीकरण में बयान या वक्तव्य केन्द्र में हो गया, सपाटबयानी का रचनात्मक प्रयोग यानी कि बोलचाल के सीधे-सरल मुहाविरे को बिंब की झलक देना प्रायः समाप्त हो गया। संचार-माध्यमों में आज शब्द की आवृत्ति है संप्रेषण की क़ीमत पर। बोलचाल का रचनात्मक प्रयोग संप्रेषण के लिए काव्यभाषा को पुनर्नवीकृत करता है। एक रोग है तो दूसर उपचार ! स्वयं दूषित न हो जाए, इसकी चिंता हर संवेदनशील कवि और प्रबुद्ध पाठक को होगी।

□□□

वर्तमान युग में काव्य भाषा की समस्याएँ, विषयक संगोष्ठी में मार्च १६७३ को पढ़ा गया आलेख।

कवि दिवस : संकल्पना और सार्थकता

डॉ० जगदीश गुप्त

कविता मूलतः स्मृति-लक्षणा होती है और इसी रूप में वह युगों पहले सामने आई। आज भी स्मृति से कविता का गहन सम्बन्ध है जो आत्मीय, प्रेरक और वरेण्य माना जाता है। कविता पर संकट मानव-चेतना पर संकट का द्योतक रहा है। सामाजिक परिवर्तन की पहचान कवि के स्वर में स्वयं गूँजने लगती है। इस रूप में कविता को मनुष्यता की मातृभाषा कहना गलत नहीं है।

भारतीय मनीषा कवि को सर्वोपरि स्थान देती रही है। यूरोपीय देशों की तरह यहाँ कवि को असामाजिक और अवांछित प्राणी कभी नहीं माना गया। आगे चलकर वहाँ भी कवि मानव अधिकारों के निर्धारक तथा जन्मजात प्रतिपक्षी माने जाने लगे। आज कविता विश्वजनीन स्तर पर मानव-स्वातन्त्र्य का पर्याय बन्न गई है और सामाजिक परिवर्तन का आधार भी। कविता को हथियार भी कहा गया है, पर इस सम्बन्ध में एक उक्ति मुझे याद आती है-

नारों की नहूसत से कविता को बचा रक्खें।
कविता को अगर कोई हथियार समझता है।।

(एहतराम इस्लाम)

यह विडम्बना है कि जिस देश में कविता 'कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू' जैसे गरिमापूर्ण कथनों से याद की जाती रही हो और कवि 'प्रजापति' से ऊपर प्रतिष्ठित किया गया हो, वहीं कवि की यथार्थ स्थिति, स्वाभिमान के लिए अतिरिक्त संघर्ष की विवशता बन गयी हो। 'महाजनी सभ्यता' कवि को ही नहीं, समस्त साहित्य और कला को बाजारू मानकर उसे निरंतर अधिकार-वंचित करने का उपक्रम करती रहती है, अतः किसी भी देश में सच्चा संस्कृति-चेता कवि निरापद नहीं है। राज्य भी कवि और उसकी भाषा को दोयम स्थान देने की कोशिश करता रहता है।

मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचन्द में लोकप्रियता के अतिरिक्त सामाजिक मूल्यबोध, मर्यादावादिता और राष्ट्रीयता के संस्कार परस्पर

मिलते दिखाई देते हैं। कवि न होकर भी प्रेमचन्द सहृदयता और सौंदर्य को अन्यतम स्थान देते थे। सौम्य रूप में क्रान्तिकारिता दोनों में दिखाई देती है।

उपाधियाँ, अलंकरण और पुरस्कार एक सीमा तक ही कवि को अपेक्षित महत्त्व दे पाते हैं, परन्तु व्यापक मूल्यहीनता और मूल्यमूढ़ता उसे निरन्तर कारागार का अनुभव कराती रहती है। मानव का जो रूप उसे अपने चारों ओर दिखाई देता है, वह उसे सारे मानव-मूल्यों का निषेध करता प्रतीत होता है। समय की इतनी कठोर चुनौती कोई बड़ा कवि ही सँभाल सकता है। गुप्तजी के काव्य-व्यक्तित्व में यह शक्ति प्रारम्भ से ही दिखाई देती है-

मातृभूमि मेदिनी को सीधे जलदान करो,
झोंके झूम झंझा के जहाँ वे जुड़ जायेंगे।
पत्ते उड़ जायेंगे, तुम्हारे घटा अम्बर के,
याद रक्खो अम्बर के लत्ते उड़ जायेंगे।।

कवि-दिवस की कल्पना का वास्तविक श्रेय उस बंगभूमि को है जिसने बंकिम और रवीन्द्र को जन्म दिया तथा राष्ट्रगान के रूप में 'वंदे मातरम्' और 'जनगणमन' को देशव्यापी मान्यता दी। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त को उनकी गरिमा के अनुरूप अभिनंदन-ग्रंथ भेंट करने और आगे 'कौस्तुभ जयन्ती समारोह' तथा बड़ा बाजार लाइब्रेरी एवं भारतीय भाषा परिषद् के आयोजनों में जो महाभाव मूर्त हुआ, उसे पूरे भारत ने अपना लिया।

गाँधीजी रवीन्द्रनाथ की तरह कवि नहीं थे, पर उनकी कल्पना में देश के स्वराज्य और सु-राज की जो धारणा उत्पन्न हुई, उसने बहुतों को कवि बना दिया, क्योंकि उनके भीतर भी नरसी मेहता जैसे कवि की प्रेरणा आदि से अंत तक सजीव रही। गाँधी कर्मयोगी थे। पर जिस कवि ने उनके कर्मयोग को कविता-योग बना दिया, वह थे मैथिलीशरण गुप्त। गाँधीजी ने उन्हें राष्ट्रकवि का विरुद प्रदान किया और नेहरूजी ने उन्हें राज्य सभा का सम्मानित सदस्य बनाकर उसे राजकीय मान्यता दी।

कवि-दिवस को राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के जन्म-दिवस ३ अगस्त से सम्बद्ध करने का भाव अवश्य मेरा है जिसे मैंने अपने 'शम्बूक' की समर्पण पंक्तियों में १६७८ में ही लिख दिया था। आपातकाल की विभीषका का कटु अनुभव, प्रतिवाद की प्रतीकात्मक भाषा में जो स्वर ग्रहण कर सका, उसकी गूँज इन पंक्तियों में सुनी जा सकती है-

राज्य जो संस्कृति रहित है, दर्प है।
डसेगा मानव-नियति को सर्प है।।

मनुजता हो जहाँ आहत मूक।
वहीं उसका स्वर बने शम्बूक।।

रामराज्य की महिमा को गाँधीजी और गुप्तजी ने पहचाना, पर उसकी विडम्बना को शम्बूक ने वाणी दी। आज का समाज और व्यक्तिगत अनुभव राज्य की महिमा से अधिक राज्य की विडम्बना भोग रहा है, अतः कवि-दिवस की सार्थकता को नया आयाम भी मिल रहा है। नये मनुष्य की कल्पना में दोनों ही समाहित हैं। नयी कविता इसका प्रमाण है।

गुप्तजी की जन्म-शताब्दी का समारंभ जिस समय हुआ, संयोगवश मैं चिरगाँव की पुण्य-भूमि पर अपने भाव-सत्य का साक्षात्कार करने अकस्मात् जा पहुँचा। ऐसा लगा जैसे परिस्थिति अप्रत्याशित रूप से मेरी प्रतीक्षा कर रही हो। भाई उर्मिलाचरण गुप्त ने जिस सहज बन्धुभाव से मुझे आत्मीयता दी, वह मेरे लिए अविस्मरणीय है। झाँसी के स्वतंत्रता-प्रेमियों की उस सभा में सन् १९८५ में हमने यह भावना व्यक्त की कि गुप्तजी के जन्म-दिवस को शताब्दी समारोह के बाद भी कवि-दिवस के रूप में मान्यता मिले। वहाँ की सभी ने इसका मुक्त कंठ से स्वागत किया। १९८६ में हिंदी संस्थान द्वारा लखनऊ में गुप्तजी का शताब्दी समारोह राजकीय स्तर पर मनाया गया और उसमें भक्तदर्शन जी के सहयोग से तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री वीरबहादुर सिंह ने मंच से यह घोषण कर दी कि आगे अखिल भारतीय स्तर पर इसे सर्वत्र मनाया जाय। उन्होंने इस हेतु साधन प्रदान करने का आश्वासन भी दिया।

हिंदुस्तानी एकेडेमी के अध्यक्ष डॉ० रामकुमार वर्मा ने उन्हें पत्र लिखकर यह दायित्व वहन करने का प्रस्ताव किया और उसी के अनुरूप १९८७ में हमारी संस्था ने इलाहाबाद में त्रिदिवसीय आयोजन किया, जिसकी अध्यक्षता श्री गिरिजाकुमार माथुर ने की थी। वे इस समारोह में भी कवि रूप में प्रस्तुत हैं। हिंदुस्तानी एकेडेमी की उपाध्यक्ष महीयसी महादेवी ने अपनी अस्वस्थता के बावजूद भी अपना लिखित संदेश हमें प्रदान किया जो विधि की विडम्बना से उनका अंतिम संदेश सिद्ध हुआ। महामहिम उपराष्ट्रपतिजी के संदेश के साथ वह संदेश से भी सबको सुलभ कराया जा रहा है दोनों संदेश कवि-दिवस की गरिमा और मान्यता के स्थायी स्तंभ बनेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। एकेडेमी के अध्यक्ष डॉ० रामकुमार वर्मा ने कवि-रूपमें भी निरंतर प्रेरणा दी है, वे मेरे गुरु रहे हैं और आगे भी मेरा मार्ग-दर्शन करते रहेंगे।

पूरे शताब्दी वर्ष में अनेक विश्वविद्यालयों, साहित्यिक, संस्थानों, पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांकों तथा विविध सम्मान-समारोहों एवं पुस्तकों का रूप सामने आया जिनमें राष्ट्रीय शताब्दी समिति और साहित्य अकादमी,

दिल्ली, भारत भवन, भोपाल, भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी तथा भाषा संगम, इलाहाबाद (तमिलनाडु के केन्द्रों) के नाम प्रमुख हैं। वास्तव में समस्त भारत ने 'भारत-भारती' के कवि को श्रद्धांजति अर्पित की है।

महामहिम राष्ट्रपति श्री वेंकटरामन अपने उपराष्ट्रपति-काल में राष्ट्रीय शताब्दी समिति के अध्यक्ष रहे तथा राष्ट्रपति रूप में उन्होंने चिरगाँव जाकर गुप्तजी की प्रतिमा का अनावरण किया, जिससे वे स्वयं भी गौरवान्वित हुए। राष्ट्रीय संकल्प के रूप में कवि-दिवस को उनका भी सद्भाव मिलेगा, ऐसा विश्वास किया जा सकता है। पूर्व राष्ट्रपति महामहिम ज्ञानी जैल सिंह जी ने अपने समय में जो उदात्त भावनाएँ व्यक्त कीं, वे सबको स्मरणीय रहेंगी। एक राष्ट्रपति ने हिंदी के माध्यम से और दूसरे ने अंग्रेजी के माध्यम से अपनी श्रद्धांजलि राष्ट्रीय एकता के भाव से व्यक्त की, इसमें कोई संदेह नहीं।

अंत में मुझे छत्रसाल की याद आती है जिसने राजा होकर अपने सम्मानीय वीर भूषण कवि की पालकी में कंधा दिया था। एक पंक्ति याद आती है-

कीरति के बिरवा कवि हैं, इनको कबहूँ कुम्हालय न दीजै।

इन्हीं शब्दों में मैं स्व० राष्ट्रकवि के जन्मदिन 'कवि-दिवस' पर अपनी श्रद्धांजति अर्पित करता हूँ।

❑❑❑

३ अगस्त, १९८८ को उपराष्ट्रपति-निवास, नई दिल्ली में हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा आयोजित 'कवि-दिवस' समारोह में सचिव का भाषण।

मैथिलीशरण गुप्त और भारतीयता की खोज

श्री स०ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय'

मैथिलीशरणगुप्त जिन्हें हिंदी-जगत् 'राष्ट्रकवि' कहकर गौरव का अनुभव करता था और जिन्हें उनके निजी परिमंडल के लोग सहज से 'दद्दा' कह कर एक अनिर्वचनीय आत्मीयता का संस्पर्श पाते थे, हमारे देश के जीवन में एक विशेष युग के प्रतीक-पुरुष थे। यह पद अकेले और एक मात्र उनका था, ऐसा कोई दावा करना आवश्यक नहीं है। बल्कि इसके विपरीत यदि हम ऐसा पायें कि लगभग उसी युग में कुछ अन्य भारतीय भाषाओं में भी ऐसी विलक्षण प्रतिभाएँ हुईं जिन्होंने अपने भाषा-क्षेत्र में, लगभग वैसी ही प्रतिष्ठा प्राप्त की, जिन्होंने एक ओर प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय समाजों में एक व्यापकतर दैशिक इकाई का गहरा बोध जगाते हुए दूसरी ओर छोटे-बड़े, ऊँचे-नीचे, शहरी-देहाती, सुपठित और निरक्षर, सभी को एक स्निग्ध पारिवारिक आत्मीयता में दीक्षित किया-तो हमें इन तथ्यों का सही अर्थ समझना चाहिए। हमारी काव्य-परम्परा की जो विशेषताएँ इससे रेखांकित होती हैं, उनकी पहचान न केवल हमारे साहित्येतिहास का एक सही परिदृश्य उपस्थित करती है वरन् उसमें प्रत्येक रचनाकार को योग्य पद पर प्रतिष्ठित करने में हमारे सहायता करती है। उस पहचान से किसी कवि का महत्त्व कम नहीं होता, बल्कि युग-स्थिति की हमारी पहचान बढ़ती हैं आज हमारे श्रेष्ठ कवियों में भी 'राष्ट्रकवि' कहलाने की कोई ललक नहीं दिखती, क्योंकि राष्ट्र आज प्रथमतः एक राजनीतिक इकाई है और कवि का पहला सरोकार सत्ता से नहीं है, पर दूसरी ओर पाठक अथवा श्रोता-समाज भी आज कवि को दद्दा, काका, भैया आदि आत्मीय सम्बन्धों में रखकर नहीं देखता-न कवि वैसी अपेक्षा ही रखते हैं-तो यह प्रश्न उठता है कि ऐसा परिवर्तन हमारे देश में, हमारे समाज में, हमारी कवि-बिरादरी में, हमारी भाषाओं में कवि और काव्य-रसिक के सम्बन्ध में, कब, क्यों और कैसे आया ?

यह प्रश्न भी केवल कवि और उसकी सामाजिकता के सम्बन्ध का प्रश्न नहीं रह जाता, काव्य-सम्प्रेषण की स्थितियों का विचार एक तरफ संचार-साधनों और उनके नियमन से जुड़ता हुआ 'राष्ट्र' के साथ जुड़ जाता है तो दूसरी तरफ भाषा, आंचलिकता, प्रादेशिकता, सार्वदेशिकता आदि उन विषयों से जुड़ जाता है जो हमारे संवेदन को गहराई में छूते हैं और जो भावनात्मक एकता की सीमाओं-संभावनाओं को निर्धारित करते हैं। दूसरे शब्दों में सांस्कृतिक संवेदन के ये प्रश्न हमें एक बार फिर भारतीयता की खोज में उलझा देते हैं। जैसे-जैसे हमारी यह खोज आगे बढ़ती है, हमारी भारतीयता की पहचान स्पष्टतर होती जाती है, हम उसके ऐतिहासिक विकास के चरणों को एक अनुक्रम में अलग-अलग देख सकते हैं, हमारे सांस्कृतिक संस्कार और भी गहरे होते जाते हैं, काव्य और कलाओं के क्षेत्र में हम लालित्य अथवा सौंदर्य तत्त्व के साथ नैतिक और सामाजिक मूल्यों, आर्थिक और राजनीतिक दबावों और चेतना के वैश्विक विस्तार की भावी प्रक्रिया तक की बात सोचने लगते हैं।

भारतीय होना जरूरी है लेकिन यह भारतीय होना है क्या ? क्या भारतीय होने के लिए अपने को अपने अंचल और प्रदेश के जीवन से काट लेना जरूरी है-क्या आंचलिकता भारतीयता में बाधक है ? क्या अंतर्राष्ट्रीय होने में भारतीयता बाधक है-क्या जो साहित्य जिस हद तक 'भारतीय' है, उस हद तक सार्वभौमिकता से अपने को वंचित कर पा रहा है-या कि अंतर्राष्ट्रीयता के नाम पर अपने को भारतीयता की कसौटी से परे मान लेना ही एक आत्मप्रवंचना है जिसमें पड़कर हम अपने साहित्य-बोध को ही नहीं, अपने राजनीतिक जीवन को भी विकृत करते आये हैं, दोनो की जड़ों को पुष्टि से वंचित करते आये हैं।

और यदि भारतीयता का प्रश्न एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रश्न है, या कह लीजिए कि सांस्कृतिक प्रश्न भी है, ताकि यह स्पष्ट हो जाय कि राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक आदि पहलुओं के अस्वीकार का कोई आग्रह नहीं है, सांस्कृतिक भारतीयता के विचार में क्या उन परम्पराओं को (और पहले तो परम्परा मात्र को ही) अनदेखा किया जा सकता है जो (शुद्ध जैविक स्तर के बाद) हमारे संवेदन के सबसे गहरों स्तरों को रूप देती हैं-जिनमें भाषा, धर्म और धरती से लगाव सबसे अधिक महत्त्व रखते हैं ? प्रश्न को इस रूप में रखते ही यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि असल में तो राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक आदि पहलुओं का विचार ही सांस्कृतिक आधार के विचार के बिना नहीं हो सकता, कि स्वाधीन भारत के राजनीतिक जीवन की यह एक विडम्बना रही है कि उसने धर्म-निरपेक्षता की भ्रान्त परिभाषा करके उन्हीं उदार तत्त्वों को नकारा है जो साम्प्रदायिक

संकीर्णता, असहिष्णुता और अलगाववाद से मुक्ति का एक वास्तविक और टिकाऊ आधार दे सकते। भारतीय धर्म ही संसार का एक मात्र ऐसा धर्म है जो स्वयं धर्मनिरपेक्ष है–स्पष्ट रहे कि यहाँ 'धर्म' शब्द का व्यवहार दो अलग–अलग अर्थों से किया जा रहा है, पहला, भारतीय अर्थ जिसके अनुसार धर्म एक समग्र लोक–कल्याणमूलक जीवन–दृष्टि, दूसरा अंग्रेजी शब्द 'रिलिजन' की मारफत मिला हुआ संकीर्ण अर्थ जो हमारे लौकिक जीवन को उसके बाहर–बल्कि उसके बर–अक्स रखता है।

एक समग्र संस्कृति के सहज विकास के बदले एक 'मिश्र संस्कृति' ने निर्माण की कोशिशें भी उस विडम्बना का एक पहलू हैं जो हास्यास्पद होता यदि इतना खतरनाक न होता। कोई संस्कृति 'मिश्र' या 'कम्पोजिट' नहीं होती, यद्यपि हर संस्कृति दूसरी संस्कृतियों से निरन्तर कुछ–न–कुछ ग्रहण करती रहती है और अधिक जीवन्त संस्कृतियाँ अधिक खुलेपन से प्रभाव ग्रहण करती हैं–उनकी जीवन्तता का ही एक पहलू यह होता है कि वे पौष्टिक तत्त्व ग्रहण करतीं और पचा लेती हैं। 'मिश्र' संस्कृति की परिकल्पना विभिन्न तत्त्वों को जुटा कर जो भानमती का कुनबा जोड़ना चाहती है, वह इस संतुलन और पच्चीकारी (बल्कि गोदकारी) की प्रवृत्ति के कारण ही सब तत्त्वों को अलग किए रखती है, अलगाव को बनाये रखने का काम परिणामतः ही नहीं करती, बल्कि सिद्धान्ततः सही मानती है। 'मिश्र संस्कृति' कभी संस्कृति हो ही नहीं सकती, क्योंकि वह एक ऐसा घोल बनाने का आग्रह करती है जिसमें सब तत्त्व अलग–अलग पहचाने जा सकें, प्रत्येक का अनुपात निदर्शित किया जा सके–एक घोल जिसमें निरंतर आलोड़न के द्वारा मिलाये हुए तत्त्व किसी भी समय फिर अलग हो जायें। बहुत अधिक अतिरंजना नहीं होगी यदि हम कहें कि हमारे देश की राजनीतिक हलचल बहुत दूर तक केवल वह आलोड़न ही है जो इस घोल के अलग तत्त्वों का अलगाव बनाये रखता हुआ ही उन्हें मिलाकर एक झूठी एकात्मता का आभास पैदा करना चाहता है। समस्या का हल न होकर वह समस्या के बने रहने का प्रमुख कारण है। सहज विकासमान संस्कृति की एक ओर केवल एक परम्परा होती है, एक प्रधान नदी की भाँति वह अनेक नदियों का जल ग्रहण करती हुई एक जीवनधारा का रूप लेकर आगे बढ़ती हैं। उसमें अलग–अलग जलों के गुणों का संयोग ही पहचाना जा सकता है, पर जल अलग नहीं किए जा सकते।

विषयान्तर का आभास देने वाले, किंतु वस्तुतः सटीक उदाहरण के रूप में उस प्रयास का जिक्र किया जा सकता है जिसके द्वारा दो स्रोतों से शब्द लेकर अनुपात की न केवल रक्षा करते हुए, बल्कि उसे दिखाते हुए एक मिश्र भाषा गढ़ने का उपक्रम किया गया था और वर्षों के विफल श्रम

के बाद छोड़ दिया गया। भाषा के क्षेत्र में एक सबक हमने सीख लिया, पर राजनीतिक जीवन में उसे व्यापक विनियोग से हम फिर भी कतराते रहे। आज भी भावनात्मक एकता की दुहाई जोरों से दी जा रही है, पर उसका आधार अब भी भावना-जगत् में नहीं, गणितीय अनुपात में खोजा जा रहा है-क्योंकि चुनाव के समय आँकड़ों की हेरा-फेरी सदैव सम्भव है, पर भावनाओं का उन्मूलन न उतना आसान है, न उन्हें आसानी से जहाँ-तहाँ सौंपा जा सकता है।

तो मैथिलीशरण गुप्त उस युग के प्रतीक-पुरुष थे जिसका एक प्रमुख लक्षण था एक भारतीय अस्मिता की खोज की एक व्याकुलता। यह व्याकुलता राष्ट्रीयता का या राष्ट्र-मुक्ति के संग्राम का केवल परिणाम नहीं थी, बल्कि उसका कारण भी थी। ऐसे भी लोग थे जो अंग्रेजी राज को हटा देना उतना जरूरी नहीं मानते थे, पर भारतीयता की प्रतिष्ठा के लिए फिर भी व्याकुल थे। दो समान्तर स्रोत थे जिनसे दो प्रकार की स्वाधीनता की धाराएँ उमड़ रही थीं और एक-दूसरे को बल दे रही थीं। राजनीतिक स्वाधीनता का आग्रह राष्ट्र की पश्चिमी अवधारणाओं से, और पश्चिम के अनेक देशों में होने वाले स्वाधीनता-आन्दोलनों से प्रेरणा ले रहा था। सांस्कृतिक स्वायत्तता और आत्म-निर्भरता की छटपटाहट इस देश की मिट्टी में अपनी जड़ें पहचानने और उन्हें सींचने का आयोजन कर रही थी। हम यह तो कह सकते हैं कि अंग्रेजी सरकार का विरोध किए बिना भारतीयता की प्रतिष्ठा चाहने वाले हेतु ओर हेतुमत् का सही रिश्ता नहीं पहचान पाये थे, कि दूसरे लोगों ने (अथवा इन्होंने) भी क्रमशः इस बात को समझा कि असली शत्रु आर्थिक-राजनीतिक आधार को स्वीकार कर लेने पर भी यह बात नहीं लड़ी जा सकती थी जो लड़ी गयी, न वैसे लड़ी जा सकती थी जैसे लड़ी गई। एक निहत्था देश भावना के बल पर ही संघर्षरत हुआ-और उस भावना का बल एक प्रेरक आत्म-बिंब का ही बल था। देश का पैसा खिंच कर विदेश चला जा रहा है, इसका बोध तो भारतेन्दु को भी हुआ था। और इस आर्थिक दोहन की व्यथा ने हीं अंग्रेजी सरकार की यथार्थता को देखने की नई दृष्टि दी। पर बंकिमचन्द्र चटर्जी के उपन्यास में जब देश माता को धरती के रूप में ही नहीं, बल्कि साथ ही सरस्वती और दुर्गा के संश्लिष्ट रूप से देखा गया था, तब उसकी प्रेरणा आर्थिक नहीं थी।

कभी संसार को ज्ञान देने वाली भारत की 'वाणी विद्यादायिनी' अब 'दश-प्रहरणधारिणी' भी हो, कंठ, बाहु, हृदय, मर्म सब एक ही दीप्तिमयी प्रतिमा को समर्पित हों, इस भावना और संकल्प के पीछे एक दूसरी ही सत्ता क्रियाशील थी जिसकी छवि भारतीय संस्कृति के पतले दिनों में बहुत धुँधली पड़ गई थीं, लेकिन जिसकी हजारों साल पुरानी जड़ें इतनी

गहरी थीं कि हमारी सम्पूर्ण उपेक्षा के बावजूद भी किन्हीं गहरे स्रोतों से रस खींच कर जीवित रहती चली आयी थीं............वे स्रोत क्या हैं, कहाँ हैं, कैसे हम उनसे फिर जुड़ सकते हैं, कैसे अपनी भी और अपनों को भी एक नयी, विशद्तर और व्यापकतर पहचान बना सकते हैं ? यह प्रश्न एकाएक सारे देश के मन में कौंध गया था-सारे भारत देश के, जिसके कारण दक्षिण में सुब्रह्मण्य भारती भी एकाएक उसी स्वर में उसी भारत-माता की वन्दना कर उठे थे जिससे उत्तर में मैथिलीशरण गुप्त और पूर्व में आहूत बंग-माता की प्रतिमा भी उसी विराट् से अनिवार्यतया लय हो गयी है। अन्ततोगत्वा महात्मा गाँधी ने इस भारत-प्रतिमा को एक ठोस व्यावहारिक पीठिका पर स्थापित किया और मजबूती से उसे इस देश की धरती से, धरती के बेटे से और उसके श्रम से जोड़ दिया। उस व्यावहारिक रूप को फिर आध्यात्मिक पुष्टि मिली तो कवि की उर्वर क़ल्पना से ही नहीं, उसकी उस हटीली स्मृति से भी जो सैकड़ों पीढ़ियों से, हजारों वर्षों से, जातीय मानस में उस दिव्य आत्म-बिंब को सँजोये चली आई थीं-उस भारत-भूमि के बिंब को, जिसकी देवता स्तुति ही नहीं गाते थे, बल्कि जिसमें जन्म लेने वाले से ईर्ष्या भी करते थे :

"गायन्ति देवाः खिल गीतिकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे।
स्वर्गापवर्णास्पद मार्गभूते भुवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।।

-विष्णुपुराण

यह स्वीकार करना होगा कि इस बिंब के साथ अनेक कठिनाइयाँ भी जुड़ी हुई थीं जो क्रमशः सामने आयीं, जिन्होंने स्वाधीन भारत में विकट रूप लिया। पर जब तक राजनीतिक उपक्रम और सांस्कृतिक उपक्रम दोनों का प्रमुख लक्ष्य अंग्रेज को हटाना था-देश को विदेशी शासन से मुक्त कराना था, तब तक वे कठिनाइयाँ दबी रह सकती थीं-बल्कि उनके दबे रहने से एक ऊर्जा-संचय भी होता था जिसका लाभ स्वाधीनता संघर्ष को मिलता था।

बंगाल में उस रूप में भारतमाता का गायक कोई कवि नहीं हुआ, यद्यपि भारतमाता, लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा की एक संश्लिष्ट भाव-प्रतिमा के निर्माण में बंगाल का सबसे महत्त्वपूर्ण योग रहा और 'वन्दे-मातरम्' ही भारत के स्वाधीनता-संग्राम को प्रेरणा देने वाला असली राष्ट्रगीत रहा। 'कवि-गुरु' हमें बंगाल ने दिया, क्रान्ति के सूत्रधार भी बंगाल ने दिये, पर 'राष्ट्रकवि' मैथिलीशरण गुप्त ही हुए। यह विरुद दूसरे किसी नाम के साथ जोड़ा जा सकता है तो कदाचित् सुब्रह्मण्य भारतीय के नाम के साथ ही। 'भारत-कोकिला' का नाम भारत के साथ जुड़ा तो उनके ओजस्वी वक्तृत्व के कारण ही, उनकी कविता के कारण नहीं। हिंदी के ही क्षेत्र में हम 'एक

भारतीय आत्मा' का और अनन्तर दिनकर का स्मरण कर सकते हैं-पर हमारा प्रयोजन किसी प्रदेश या भाषा के काव्य-कृतित्व पर बल देना नहीं है, प्रेरणा के मूल-स्रोतों की ओर ध्यान दिलाना है। और हमें उन स्रोतों की खोज और पहचान की ओर उन्मुख करने का काम जिस व्यापक रूप से, जिस गहराई के साथ मैथिलीशरण गुप्त ने किया-बल्कि इस प्रभाव की सघनता की ओर ध्यान दिलाने के लिए हम उनके पूरे कृतित्व की बात न कह कर केवल एक ग्रंथ की बात कह सकते हैं-भारतीयता की खोज में प्रवृत्त करने का काम जैसा 'भारत-भारती' ने किया, वैसा किसी दूसरी रचना ने नहीं किया। देश-प्रेम की कविता और भी अनेक कवियों ने रचीं। उनमें सत्कवि भी थे और रचनाओं में अनेक उच्च कोटि की कविताएँ हैं। पर 'भारत-भारती' ने जिस तरह समाज के हर वर्ग के मर्म को छुआ, संवेदन के हर स्तर को झकझोरा और भावनामूलक, बौद्धिक, आध्यात्मिक, सभी प्रकार के सरोकारों को पुष्टि दी, वह अद्वितीय है। संवेदन और सरोकार बदलते हैं-राग-बंधों के ढाँचे बदल जाते हैं और इस प्रकार रचनाएँ पुरानी पड़ जाती हैं-स्वयं कवि ही प्रौढ़कर अवस्था में पहुँच कर अपने कर्म को बदली हुई दृष्टि से देख सकता है। पर जो रचनाएँ युग की अचूक पहचान के कारण ठीक समय पर ठीक बिंदु को छू जाती हैं, वे समाज के जीवन में एक टिकाऊ स्थान बना गई होती हैं। क्योंकि उनका प्रभाव जातीय चेतना के कालातीत खंड में चला गया होता है। वहाँ वे वैसी ही अन्य अनेक रचनाओं के साथ जुड़कर एक नरीन्ध्र परम्परा का अंग बन जाती हैं। फिर उस परम्परा को हम कहीं भी हुए, वह सारी की सारी गूँज उठती हैं। प्रासंगिकता का विचार इसीलिए किसी तदर्थ आधार पर तत्काल दृश्य स्थूल वास्तविकता की कसौटी पर या विचारधारा के तात्कालिक सम्मान के संदर्भ में नहीं किया जा सकता। वह समूची परम्परा के संदर्भ में ही संगत और सार्थक होता है। भारत-भारती में भी हम उसके रचनाकाल में चर्चित नई ऐतिहासिक जानकारियों के बीच वाल्मीकि और व्यास, रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत, कालिदास और भवभूति की अनेक अनुगूँजें हम सुन सकेंगे। इसका आशय यह नहीं है कि गुप्तजी उनका अनुकरण कर रहे थे, न यही कि वह उनमें वर्णित प्रसंगों को उठा रहे थे और नये रूप में प्रस्तुत कर रहे थे। अभिप्राय यह है कि वह स्वयं परम्परा में जुड़ते हुए उसे एक और उपकरण दे देते हैं जिसमें उसकी गूँज सुनाई दे सकेगी और हमें सुनाई दी। वह गूँज ही सांस्कृतिक अस्मिता की गूँज हैं और उसके सहारे ऐसी प्रत्येक रचना न केवल अपनी एक भाषा की परम्परा के साथ जुड़ती जाती है, बल्कि हमारे देश-जैसे बहुभाषी और वैविध्यमय सांस्कृतिक परिमण्डल की अन्य भाषाओं की रचनाओं के साथ

भी जुड़ जाती है। तभी हम अलग-अलग भाषाओं और भाषा-प्रदेशों की रचनाओं का विचार करते हुए भी एक भारतीय संवेदन, भारतीय अस्मिता, भारतीय दृष्टि-संक्षेप में भारतीयता की बात कर सकते हैं। 'भारत-भारती' ऐसे समय प्रकाश में आई कि उसे पढ़कर एकाएक लोग अनुभव करें, "अरे, यही तो वह दर्द था जिसे हम न नाम दे पा रहे थे, न जिसके उपचार की कोई व्यवस्था कर पा रहे थे-कवि ने एकाएक उसके मर्म की पहचान हमें करवा दी है। इतना ही नहीं, उसने हमें उस द्रोण पर्वत का भी संकेत दे दिया है जहाँ से हम संजीवनी बूटी लाकर अपना उपचार स्वयं कर सकते हैं-वह द्रोण पर्वत तो हमारे भीतर ही है।"

निःसंदेह जिस जातीय अस्मिता को भारत-भारती ने जगाया, वह आज अधूरी जान पड़ सकती है, उसके उद्बोधन का लक्ष्य भारतीय हिंदू अथवा तत्कालीन परिभाषा की आर्य जाति ही थी। कुछ-कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार इकबाल, 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा' कहते समय उन विजेताओं की ओर से बोल रहे थे जिनका कारवाँ कभी गंगा के किनारे उतरा था, उस मध्यकालीन अभियान से पहले की इस देश की परम्परा से इकबाल का लगाव नहीं था। यहाँ इकबाल और मैथिलीशरण गुप्त की तुलना अभीष्ट है जिसको अनदेखा करने के या जिसका गलत निरूपण करके गलत समाधान सुझाने के दुःखद परिणाम स्वाधीन भारत के सामाजिक जीवन में अधिकाधिक लक्ष्य होते गये हैं। जैसे इस देश में कुछ लोग ऐसे हैं जिनकी कल्पना में यह देश हिंदुओं का देश है, वैसे ही कुछ लोग ऐसे भी हैं जिनके लिए यह देश उनका देश है जिनसे अंग्रेजों ने बादशाहत छीनी थी। ये दो प्रकार की मानसिक संकीर्णताएँ हैं, दो भ्रान्त इतिहास-दृष्टियाँ हैं-पर ऐसा नहीं है कि प्रत्येक के पीछे युक्तियाँ न हों। जहाँ तक रचना साहित्य का सवाल है, रचनाओं को हम कालिक संदर्भ में रखकर तो उनका मूल्यांकन कर ही सकते हैं, रचनाकार के विकास-क्रम में रखकर भी उनकी नयी समझ पा सकते हैं।

गुप्तजी ने भारत-भारती में भारत के आर्थिक दोहन का भी मार्मिक चित्र खींचा है। ऐसा नहीं है कि वह उसके प्रति उदासीन थे। वैसा हो ही नहीं सकता था। कवि के पारिवारिक जीवन में भी दोहन से पैदा होने वाले कष्ट की पहचान का पर्याप्त कारण था। गुप्तजी की वाल्यावस्था से परिवार दारुण रूप से ऋणग्रस्त था और बालक मैथिलीशरण को अक्सर इसका कटु बोध होता था। पारिवारिक चर्चा में बड़े भाई के मुँह से एक बार यह सुनकर कि देश की सारी सम्पत्ति विदेश चली जा रही है और यही उसकी दरिद्रता का असली कारण है, बाल-बुद्धि से उसने अपने परिवार की ऋणग्रस्तता और अपने अर्थ-कष्ट को इस बात से जोड़ लिया

था और मन ही मन निश्चय कर लिया कि वह इसके विरोध में लिखेगा-छंद जोड़ना तो वह उससे पहले आरम्भ कर चुका था। पर शोषित समाज में केवल शोषित होने का समान बोध ही एकांत की भावना का आधार हो, यह बालक मैथिलीशरण को भी स्वीकार न हो सकता था। एकता के असंख्य दृढ़तर आधारों से उसका परिचय रहा था और उनका अनुभव परिपक्वतर भी होता गया। पर किशोरावस्था के अनुभवों में दबी प्रेरणाओं को समुचित महत्त्व देकर भी हमें कवि के पूरे विकास को देखना होगा। इसे आसान बनाने के लिए हम उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को दो खंडों में बाँट कर भी देख सकते हैं-'पूर्ववर्ती गुप्त' और 'परवर्ती गुप्त' की चर्चा कर सकते हैं। बल्कि शायद तीन खंडों में भी बाँट सकते हैं। जिन कवियों की रचनावधि लम्बी होती है, उनके साथ ऐसा बहुधा होता है और स्वाभाविक है।

कवि की मनोरचना का एक चरण और उसके काव्य का एक स्वर वह है जो महाभारत, रामायण और पुराणों से सम्बद्ध खंडकाव्यों से आरम्भ होता है और उसके आरोह का शिखर भारत-भारती हैं मनोविकास के दूसरे चरण में (और काव्य के तदानुकूल स्वर में) कवि के मानवतादर्श का और उसके लोकहितवादी स्वरूप का विशद् निदर्शन होता है इसके प्रतिनिधित्व का गौरव मुख्य रूप से साकेत और यशोधरा को दिया जाता है, पर उस विकास की विविध दिशाओं को ध्यान में रखते हुए इन दोनों रचना-रत्नों के साथ, द्वापर, नहुष, दिवोदास, कुणाल-गीत अजित, काबा और कर्बला, विष्णुप्रिया आदि का उल्लेख भी आवश्यक प्रतीत होता है। पहले चरण में भारत की दुर्दशा से व्यथित कवि उसके गौरवमय अतीत का स्मरण करता हुआ उज्ज्वल भविष्य के लिए प्रयत्न करने की प्रेरणा देता है, दूसरे चरण से भारतीय संस्कृति का वैतालिक मानव-संस्कृति का संदेशवाहक हो गया है। तीन चरणों की बात सोचें तो दूसरे के उत्तर भाग को अलग कर दे सकते हैं। इसमें कवि न केवल दूसरे चरण की कसौटियों के आधार पर पहले चरण के चिंतन की पुनः परीक्षण करता है, वरंच वैचारिक और सर्जनात्मक परिवेश को राजनीतिक व्यवहार की भूमि से जोड़ने का उपक्रम भी करता हैं संस्कृति के पौराणिक पक्ष के साथ ऐतिहासिक पक्ष को और दोनों के प्रकाश में समकालीन राजनीतिक मर्म को देखना चाहता है।

जीवन-वृत्त के आधार पर चलें तो कह सकते हैं कि पहला चरण कवि की सत्याग्रह आन्दोलन के संदर्भ में जेल-यात्रा के साथ पूरा हुआ, दूसरा चरण कवि के चिरगाँव और आगरा प्रायः छोड़कर संसद-सदस्य के रूप में दिल्ली आ बसने के साथ और कुछ हलके स्तर पर हम इन

आभ्यन्तर परिवर्तनों के बाह्य सूचकों को उनकी वेशभूषा के परिवर्तनों में प्रतिबिम्बित मान सकते हैं। जाति, धर्म और संस्कृति की दुहाई देने वाला 'चिरग्रार्मीण' कवि ऊँची धोती और गाढ़े की चौबन्दी की मिरजई के साथ लाल बुन्देलखण्डी पगड़ी पहनता था-जेल में गाँधी के विचारों और आचार्य नरेन्द्रदेव के साहचर्य से प्रभावित जिस कवि ने जात-पाँत और छुआछूत के विरोध के साथ नारी के आत्मगौरव के ऐसे मार्मिक चित्र प्रस्तुत किये, वह खादी की धोती, कुर्ता, गाँधी टोपी अपनाकर और भी साधारण, निर्विशेष हो गया था। गाँव और कस्बे से उसका नाता टूटा नहीं था और शहर में जो चीजें दूसरों से अलग करतीं, वे छूट गई थीं।

पर मानवता के आदर्श का यह गायक, प्रबंध और खंडकाव्यों में भी निरे वृत्त-कथन को छोड़कर जिन आदर्श चरित्रों का निर्माण कर रहा था, चारित्र्य के विचार में लगातार पात्रों को मनोजगत् में और गहरे प्रवेश करता हुआ वह उन्हें समकालीन वास्तविकता से भी जोड़ता जाता था। आदर्शों की प्रस्तुति में वह कोरा आदर्शवादी कभी नहीं होता था, बल्कि निरन्तर उन्हें वर्तमान के कठोर संदर्भ में परखता भी चलता था। कथा-काव्य में कवि को काल-त्याग (और देश-त्याग) करना ही पड़ता है कि वह अपने साथ सामाजिकता को भी कथा के देश-काल में ले जा सके। मैथिलीशरण गुप्त ने वह काम करते हुए भी अपने पैर ठोस समकालीन वास्तविकता के धरातल से कभी उखड़ने नहीं दिए। सम्प्रदाय और साम्प्रदायिक विद्वेष समकालीन सत्य थे, नारी की अप्रतिष्ठा भी समकालीन समाज का सत्य था और छुआछूत भी गुप्तजी के आदर्श चरित्र इन सच्चाइयों को अनदेखा नहीं करते और इसलिए उनका चारित्र्य कभी यथार्थ को झुठलाता नहीं, उसके भीतर से ही उससे ऊपर उठने की ऊर्जा प्राप्त करता है, और यहीं पर उस महत्त्वपूर्ण सत्य की ओर संकेत करना आवश्यक है जिसकी उपेक्षा के कारण अनेक आलोचक उन्हें केवल हिंदू-पुनरुत्थान का कवि मानकर उनका अवमूल्यन करना चाहते हैं। हिंदू वह थे, वैष्णव वह थे, जैसे महात्मा गाँधी हिंदू थे और वैष्णव थे। वह सनातन धर्म ही उनका धर्म था जिनमें बैर का कोई स्थान नहीं है और विधर्मी के लिए भी सुरक्षित स्थान है गुप्तजी की उदार मानवतावादी दृष्टि की जड़ें उसी सनातन धर्म में थीं जो मूल्य, जो दृष्टि हमें उदार बनाती है, सर्वधर्मसमभाव देती है, वही तो सनातन धर्म की देन है। यह उसी धर्म की अद्वितीय विशेषता है। भारतीयेतर किसी धर्म के बारे में यह नहीं कहा जा सकता और इसलिए 'भारतीय दृष्टि' और 'धर्म-दृष्टि' में विरोध खोजना खरगोश में सींग खोजना है। आरम्भ में भारतीय आत्मबिंब के साथ जुड़ी हुई कठिनाइयों का उल्लेख किया गया था। उन कठिनाइयों का निराकरण

हो सकता है तो इसी मूल्य-दृष्टि के द्वारा-यही उस भावनात्मक एकता का आधार हो सकती है जिसे आज की चरम आवश्यकता बताया जाता है। मैथिलीशरण गुप्त को हम एकसाथ ही मानव-संस्कृति के कवि और भारतीय अस्मिता के प्रतिष्ठापक कवि के रूप में देखते हैं तो इसी कारण।

किंतु भारतीयता के तत्त्वों की खोज केवल जाति और धर्म में उनकी जड़ों की खोज तक सीमित नहीं है। या अधिक सही ढंग से यों कहें कि भारतीयता को धर्म की सही भारतीय परिभाषा में, सार्वभौम सनातन मूल्यों के प्रति निष्ठा के साथ जोड़ लेने पर खोज का एक रूपान्तर हो जाता है। वे मूल्य क्या हैं और उनके सनातनत्व के सदंर्भ में विकास अथवा नई उपलब्धियों का अर्थ क्या है, क्योंकि सनातन मूल्य ही नष्ट हो जाते हैं : एक गत्यात्मकता और सर्जनशीलता सनातनत्व का अनिवार्य अंग है। गुप्तजी के काव्य का अनुशीलन करते हुए हम लगातार मूल्यों की इस विकसनशीलता को भी देखते हैं। वह नरत्व की प्रतिष्ठा करते हैं, फिर मानव के उत्कर्ष की सम्भावना करते हैं, मानव के बार-बार गिरने को देखते हैं, पर अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं करते, अवसाद नहीं करते-'नर हो, न निराश करो मन को'-उनकी आस्था है मानव पूर्णत्व को प्राप्त कर सकता है-

> "मनुष्य बार-बार ऊँचे उठने का प्रयत्न करता है और मानवीय दुर्बलताएँ बार-बार उसे नीचे ले जाती हैं। मनुष्य की उन्न पर विजय पानी होगी। इसके लिए उसे साहसपूर्वक फिर-फिर उठ खड़ा होना पड़ेगा। तब तक जब तक वह पूर्णता प्राप्त न कर ले।"

इस आस्था के कारण कवि प्रसिद्ध कथा का रूप और अभिप्राय थोड़ा बदलता है। नहुष धर्माचरण के कारण इन्द्रत्व की प्राप्ति और सिर्फ अहंकार के कारण सर्प-योनि में पतन का दृष्टान्त भर नहीं रह जाता, पूर्णता की ओर बढ़ते हुए समर्थ मानव की परीक्षा की कथा बन जाता है। मिल्टन गुप्तजी ने नहीं पढ़ा था, ईसाई परम्परा के प्रकाश-सुत लुसिफर अथवा यूनानी परम्परा के प्रमथ्यु की गाथा भले ही उनकी परिचित रही हो, नर नहुष के 'पैराडाइज लास्ट' में ही उसके 'पैराडाइज रिक्वायर्ड' की कथा निहित हैं मानवोत्कर्ष की सम्भावना ही नहीं, अद्यसम्भाविता का संकेत ही मैथिलीशरण गुप्त को देना था। उनका गहरा मानवीय संस्कार उनके चिंतन की दिशा और उसके स्वभाव को क्लासिक विचार-प्रवृत्तियों से भी उसी स्पष्टता से अलग करता है जिससे रोमांटिक प्रवृत्ति से। मिल्टन भी उसके अप्रासंगिक हो जाते हैं और शेली भी। मानवोत्कर्ष की सम्भावना जिस मानवीय उद्यम से उत्पन्न होती है, वह न देवताओं के अनुग्रह का फल है, न देवताओं के प्रति विद्रोह की मुद्रा का प्रतिफलन है, वह मानव के पुरुषार्थ

की ही उपलब्धि है। 'दूर के दिव्य' को देखकर अपनी पहुँच के 'भव्य को हम न खो बैठें', यही पृथ्वी-पुत्र दिवोदास का संदेश है-

"सिद्ध एक पुरुषार्थ हमारी, मुक्ति-भुक्ति का मंत्र।"

मानव के प्रति यह आस्था मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का विशिष्ट स्वर है, पर यह कहते हुए यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह आस्था मानव को ईश्वर के प्रतिपक्ष में खड़ा करके नहीं, बल्कि अपने भीतर उसकी पहचान कराके ही होती है-

"निज मर्यादा पुरुषोत्तम ही मानव का आदर्श।"

दिवोदास तो. मानव है, काशी का राजा है, गुप्तजी मानवता की प्रतिष्ठा को मानव से परे तक ले गये हैं। हिडिम्बा में उन्होंने राक्षस-कन्या में मानवी को प्रतिष्ठित किया है जो कुलवधू और वीर-प्रसविनी ही नहीं, वैष्णव भी है। मानव भी तो दुष्ट भावों से प्रेरित होने पर राक्षस-रूप ग्रहण करता है, राक्षस क्यों नहीं सत्प्रेरणा से उच्चतर पद पा सकेंगे :-

"प्राणिमात्र सहज प्रवृत्तियों में एक से।
राक्षस भी चलते हैं अपने विवेक से।।
भाग्य नहीं, भूतल अभिन्न हम दोनों का।
एक स्रष्टा-द्रष्टा और एक यम दोनों का।।"

प्रणयकामा हिडिम्बा भीम को यह कह कर परास्त करती है कि-

होकर भी राक्षसी मैं, अंत में तो नारी हूँ।
जन्म से मैं जो भी रहूँ, जाति से तुम्हारी हूँ।।

जन्म और जाति को अलग करने की इस युक्ति के सामाजिक परिणाम कितने दूरव्यापी होते हैं, यहाँ इतना संकेत कर देना ही काफी है। गुप्तजी इसके प्रति उदासीन नहीं थे, उनका परवर्ती काव्य लगातार समकालीन राजनीतिक परिस्थितियों के दबाव को ध्यान में रखकर वैचारिक सामंजस्य खोजती हुई उदार चेतना को प्रतिबिम्बित करता है। परन्तु नारी की, कुलवधू की और गार्हस्थ्य धर्म की जो प्रतिष्ठा गुप्तजी ने अपने काव्य में की है और जिस विलक्षण सूक्ष्म वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि के साथ की है, वह संकेत करके छोड़ देने की चीज नहीं है। भारतीय जीवन-दृष्टि के जिस पक्ष पर गुप्तजी ने सबसे अधिक बल दिया है-और काव्यत्व के श्रेष्ठ गुणों का निर्वाह करते हुए दिया है-वह कुल धर्मपरायणा तेजस्विनी नारी का है। नारी जो अपने को मिटाकर ही पुरुष की भाग्यविधायिनी बनती है, गुप्तजी ने नारी की पारस्परिक अवधारणा नहीं अपनायी, पर उन्हें नारी का वह रोमांटिक रूप भी स्वीकार्य नहीं हुआ जिसे उदाहरण के लिए-माइकेल मधुसूदन दत्त ने यूरोपीय साहित्य से आयातित किया था। एक के बाद एक खंडकाव्य में और प्रबन्धकाव्यों में गुप्तजी ने प्रसिद्ध कथा-वस्तु लेकर भी

उसकी ऐसी पुनर्रचना की कि प्रत्येक के केन्द्र में एक नारी चरित्र आ गया–क्योंकि उनकी अवधारणा में नारी ही तो भारत की गृहस्थ सभ्यता में पारिवारिक जीवन की धुरी थी। और वही सिद्धि की खोज में घर-बार, राज-पाट सब कुछ छोड़कर चल देने वाले के मांगल्य की कामना करती हुई अपने को होम भी कर दे सकती थी। सिद्धि-मार्ग की बाधा वह स्वाभिमानिनी कभी नहीं हो सकती थी। ऐसी ही नारी को भारतीय नारी कहना संगत था जिसके आस-पास परिवार का ही नहीं, पूरे समाज का जीवन घूमता था, वैसे नहीं, जैसे प्रिया के आस-पास प्रेमी का मन घूमता है, बल्कि वैसे जैसे धर्म की धुरी के आस-पास समाज का जीवन-चक्र घूमता है अथवा घूमना चाहिए ....

नारी चरित्रों को काव्य को केन्द्रीय चरित्र बनाने में उन्हें प्रारम्भिक अवस्था में महावीर प्रसाद द्विवेदी से प्रेरणा मिली थीं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने काव्य की उपेक्षितांओं की जो चर्चा की थीं, उससे उनकी भावनाओं को बल मिला। मधुसूदन दत्त के रोमांटिक संवेदन का प्रभाव अपने ढंग का था। दत्त के अनेक विचार गुप्तजी को अग्राह्य थे, पर नारी की महत्ता और उसे रचना के केन्द्र में रखने की संभावनाओं के प्रति सजगता उस असहमति में भी बढ़ी ही, किंतु सर्जनात्मक प्रभाव कार्य करता रहा। गाँधी-दर्शन का और समकालीन नारी-जागृति का प्रभाव भी उल्लेखनीय है। नये विचारों को पचाते हुए, उनकी चुनौतियों को स्वीकार करते हुए ही गुप्तजी ने अपने नारी चरित्र-प्रधान काव्य रचे, पर उनका अवदान केवल वस्तु की नयी प्रस्तुति अथवा नये उदार सामंजस्यों की स्थापना तक सीमित नहीं है। एक नई भाषा भी हमें मिल रही थीं और रूप-संरचना के नये विधान भी प्रस्तुत हो रहे थे। नया युग इस अर्थ में गद्य का युग होगा कि उसमें कथा-प्रबन्ध की मुख्य विधान उपन्यास होगी, पद्य में वृत्त कथा क्रमशः दुष्कर होती जायेगी, इसे उन्होंने पहचाना था और यह पहचान एक तरफ उनके पुष्ट, मनमोहक, जीवन्त, गतिमय और संवेदनशील गद्य में लक्षित होती है जो उसे पुरानी उक्ति की याद दिलाती है कि 'गद्य ही कवि का निकष होता है', दूसरी तरफ वृत्तकाव्यों के लगातार बदलते हुए रूप में देखी जा सकती है जहाँ निरावृत्त गौण होता गया है और स्थितियों का सांकेतिक निरूपण, सूक्ष्म चरित्र-चित्रण, मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि और गतिमय संवाद का महत्त्व बढ़ता गया है। 'शकुन्तला' से लेकर विष्णुप्रिया तक कवि की पचास वर्षों की रचना-यात्रा का अवलोकन करें, तो हमें चकित रह जाता पड़ता है, वस्तु का चयन, कथा की संरचना, मनोवृत्तियों और मुद्राओं का चित्रण, शिल्प का सम्पूर्ण सामंजस्य, भाषा की सहज-सम्प्रेष्यता देहात में बैठकर खड़िया से स्लेट पर छंद जोड़ने वाला यह कवि कैसे निरन्तर नये से नये

विचार के प्रति खुला रहता हुआ नये संवेदन के निर्माण में योग देता रह सका-और इस प्रक्रिया के बीच कैसे वह परम्परा से जुड़ा रहा और उसका परिमार्जन भी करता रहा-इसका कुछ अनुमान उन्हीं को हो सकता है जिन्होंने मैथिलीशरण गुप्त को राजधानी के नागरिकों और संसद-सदस्यों के बीच अपने वाग्वैदग्ध्य से बड़े-बड़े नेताओं को चुप करा देते देखा था। इस अक्षुण्ण लोक-सम्पृक्ति के कारण ही एक आचार्य आलोचक ने उन्हें 'इस युग में जन-समाज के प्रथम कृती कवि' कहा था और एक प्रमुख कवि ने उन्हें 'हिंदी जनता का सबसे बड़ा प्रतिनिधि कवि' स्वीकार किया था।

मेरे तो वह गुरु-स्थानीय थे, भले ही उनका शिष्य होने की पात्रता मुझमें नहीं थीं। छंद का ज्ञान मुझे उन्हीं की कविता से हुआ था। हिंदी कविता की मेरी पहली स्मृतियाँ उसी की हैं, और यह मार्मिक संयोग है कि पहली याद की वे पंक्तियाँ भी 'निज मातृभूमि स्वदेश' की छवि का आवाहन करती हैं। अर्थात् उन्हीं की कृपा से भारत और भारती का सम्बन्ध मेरे लिए केवल व्याकरण की बात न रहकर मेरे जीवनानुभव का स्वयं, मेरी अस्मिता का अंग बन गया है।

मैथिलीशरण गुप्त की जन्मशती के अवसर पर भारतीयता की चर्चा हम उनकी पहचान के लिए नहीं, स्वयं अपनी पहचान के लिए करते हैं। गुप्तजी भारतीयता में निष्णात थे, उसके खोजी नहीं, हमारी भारतीयता की खोज हमें उनकी देहरी तक ले आती है। उसी देहरी पर खड़ा होकर मैं उनका स्वरूप निहारता हूँ। एक बार जब मैं पहले-पहले उनके दर्शन करने चिरगाँव गया था-उन्होंने अपनी देहरी पर खड़े होकर मुझे केवल-ब्राह्मण-संतान होने के नाते प्रणाम करना चाहा था, उनकी जन्मशती के अवसर पर मैं उनकी देहरी पर खड़ा होकर उन्हें बारम्बार प्रणाम करता हूँ। उनके काव्य की देहरी सांस्कृतिक भारत की देहरी है जहाँ से कोई रीता नहीं लौटता, आप्यायित होकर ही लौटता है।

❒❒❒

साहित्य अकादमी, दिल्ली, भारतीय भाषा परिषद् एवं भारतीय संस्कृति संसद कलकत्ता के संयुक्त तत्त्वावधान में दिसम्बर २६-२८, १९८६ को आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में दिया गया भाषण

लोकतांत्रिक व्यवस्था और अभिव्यक्ति का संकट

श्री रमेशचन्द्र शाह

"..........भारत ने उस प्रतिद्वंद्वितापूर्ण उत्पीड़क व्यवसायवाद का या स्वाधीनता के ढोंग से भरे जनतंत्र के संसदीय संगठन का विकास कभी नहीं किया जो यूरोपीय सभ्यता के विकास-चक्र के बूर्जुआ युग की विशेषताएँ हैं। परंतु इन्हें सामाजिक-राजनीतिक प्रगति की आदर्श व्यवस्था मानकर चलने का फैशन अब जा रहा है। हमें अपने को इनके मानदण्डों से नापने की कोई जरूरत नहीं। ...."

-श्री अरविन्द ('फाउण्डेशंस ऑव इण्डियन कल्चर')

लोकतांत्रिक व्यवस्था में अभिव्यक्ति का संकट क्यों उपस्थित होता है या क्यों उपस्थित होना चाहिए ? इस संकट की बात तो सामान्यतया तानाशाही व्यवस्था या दमनकारी व्यवस्थाओं के सिलसिले में ही उठाई जाती रही है जबकि भारतीय लोकतंत्र को तो एक प्रसिद्ध विदेशी इतिहासकार ई० पी० थॉम्पसन के शब्दों में 'विचारों की खुली हाट' कहलाने का श्रेय प्राप्त है। इसके बावजूद यदि अभिव्यक्ति का संकट है तो इसका मतलब यही है कि या तो यह हाट जितनी खुली दीखती है, उतनी है नहीं, या फिर यह, कि इस हाट में स्वयं स्वदेशी माल की ही उपज और खपत दोनों संदिग्ध हैं।

ऊपर, इस लेख के आरम्भ में ही हमने श्री अरविन्द की एक टिप्पणी उद्धृत की है। टिप्पणी यह काफी पहले की है-इस शताब्दी के लगभग आरम्भिक वर्षों की। यह देखना दिलचस्प और प्रस्तुत प्रसंग में काफी मददगार भी हो सकता है कि जिन्हें हम आधुनिक भारत के निर्माताओं की तरह याद करते हैं-महात्मा गाँधी, श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ इत्यादि, वे इस बारे में किस तरह अनुभव करते थे और आज हम लोग शताब्दी के इन ढलते वर्षों में क्या अनुभव करते हैं।

श्री अरविन्द, उदाहरण के लिए, ऊपर दी गई टिप्पणी में यूरोपीय

लोकतंत्र, संसद, इत्यादि के प्रति काफी आलोचनात्मक दृष्टि रखते दीखते हैं। किंतु इस दृष्टि में निषेध या नकार नहीं है। न पीछे लौटने जैसी बात है। जहाँ एक ओर वे महात्मा गाँधी की तरह साफ कहते हैं कि "अपने केन्द्र, निजी आधार को ढूँढ़ना ही उद्धार का एकमात्र उपाय है", वहीं वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि "हमारे लिए यूरोपीय आक्रमण से पहले की स्थिति में लौटने का प्रयत्न असफल होगा।" इसलिए, कि "काल-प्रवाह हमारे ऊपर से नहीं गुजरता, बल्कि हमें अपने साथ आगे बहा ले जाता है।" स्वाधीनता, समानता और जनतंत्र जैसे विचारों को वे स्वीकार्य मानते हैं तो इसलिए नहीं कि वे यूरोपीय हैं, बल्कि इसलिए कि "वे आत्मा के सामने फलप्रद दृष्टिकोण रखते हैं और मानव-जीवन के भावी विकास के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।"

सन् १९४२ के आसपास, जब सारी दुनिया में एण्टी-फासिस्ट सम्मेलन चल रहे थे, महात्मा गाँधी से भी कहा गया कि वे भी इस धर्मयुद्ध में मित्र राष्ट्रों के प्रति अपनी पक्षधरता का सार्वजनिक ऐलान करें। तो रोमाँरोलाँ के परममित्र गाँधी जी उस नाजुक मौके पर भी यह कहे बिना नहीं रह सके कि "पश्चिम का प्रजातंत्र भी जहाँ हल्के रंग का, ताज़ा और फासिस्ट तंत्र ही है।" इससे जाहिर है कि गाँधी जी भी यूरोप के उस 'प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण और उत्पीड़क व्यवसायवाद' तथा 'स्वाधीनता के ढोंग से भरे संसदीय जनतंत्र' के प्रति उतने ही सजग थे जितने श्री अरविन्द, और उन्हीं की तरह वे भी उस प्रजातंत्र की हू-ब-हू नकल अपने देश में नहीं देखना चाहते थे।

निश्चय ही हमारे स्वाधीन जनतंत्र की देहरी पर ही जिस 'आलोचक राष्ट्र' के निर्माण का सपना हिंदी के लेखक को दीखा था, उसकी नींव बहुत पहले डाली जा चुकी थी। 'हिंद स्वराज' और 'भारतीय संस्कृति के आधार' सरीखे ग्रंथ क्या उसी नींव के पत्थर नहीं है ? किंतु जैसी, जो भी इमारत हमने पिछले पचासेक वर्षों में उस नींव पर खड़ी की है, उसे देखते हुए हम क्या दावा कर सकने की स्थिति में हैं कि वह एक स्वाधीन रूप से सर्जनात्मक और आलोचक राष्ट्र की निर्मिति है ?

'हमें अपने को इनके मापदण्डों से मापने की कोई जरूरत नहीं'-यह वह आत्मविश्वास है जो इस सदी के आरम्भ के भारतीय चिंतकों-कर्मज्ञों तथा साहित्यकर्मियों में भी दिखाई देता है : 'शिवशम्भू का चिट्ठा' में ही, मसलन, वह दूसरी प्रक्रिया भी देखी जा सकती है। यूरोप के आचरण को अपने सांस्कृतिक मानदण्डों से मापने की प्रक्रिया। किंतु क्या लोकतांत्रिक व्यवस्था के चालीस बरसों बाद का दृश्य ऐसे आत्मविश्वास और निर्भीकता का आश्वासन देता है ? सबको साथ लेकर चलने की

तत्परता और सामर्थ्य होना एक बात है और सबको खुश रखने का गणित भिड़ाते रहने की लाचारी बिल्कुल दूसरी बात है। एक दूरदर्शी आत्मबल का परिचायक है तो दूसरा आन्तरिक दुर्बलता और ऊपरी सदाशयता का। देखा जाय तो हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था में यह दूसरी हकीकत ही ज्यादा उभर कर आ रही है और इसके लक्षण राजनीतिक संस्कृति से लेकर साहित्यिक सांस्कृति तक सभी स्तरों पर प्रकट हो रहे हैं। किसी भी मुद्दे पर हमारे राजनैतिक आचरण को देख लीजिए : दृष्टि और साहस का दारिद्र्य ही सूचित होता है। समस्याएँ आती-जाती हैं, निपटाई नहीं जाती : इसलिए कि हमने अपने आगे कुछ परोपजीवी अवधारणाओं की अभेद्य दीवारें खड़ी कर ली हैं जो हमारे ऐतिहासिक अनुभव और पारस्परिक जीवन-शैली में से नहीं निकलीं और जिन्हें हमने पूरी तरह उपने स्वभाव और स्वधर्म के हिसाब से ढालने की चुनौती पूरे मन से स्वीकार ही नहीं की। दूसरों के दिये हुए उत्तर काम नहीं देते : वे समस्याओं को उलझाते ही हैं। अपने ही उत्तर खोजने पड़ते हैं। परंतु समाज और संस्कृति को लेकर तथाकथित प्रगतिशीलता', 'धर्मनिरपेक्षता' और स्वयं लोकतांत्रिक व्यवस्था से उद्भूत कर्तव्यों और अधिकारों के संतुलन को लेकर आज तक ऐसी स्थिति में पहुँच गए हैं कि जो सबसे ज्यादा साफ़ और सबसे दूर देख सकता है, वहीं अकेला पड़ जाता है, वही अलोकप्रिय और लोकविरुद्ध दीखने लग जाता हैं। कड़वा सच कहने की हिम्मत ही ऐसे बहुमतवादी माहौल में सबसे संदिग्ध बना दी जाती है। आज हमारे साहित्यिक समाज में जो संसारहीनता घर कर गई है, वह अपने आप में लोकतांत्रिक व्यवस्था में अभिव्यक्ति के संकट का स्पष्ट उदाहरण है। दो बरस पहले एक गोष्ठी में स्व० अज्ञेय ने संवादहीनता की ओर इशारा करते हुए कुछ दो-टूक बातें कहीं थीं जो मुझे इस प्रस्तुत प्रसंग में भी विचारणीय लगती हैं। उन्होंने लक्ष्य किया था कि 'हम अपने को क्रमशः इस स्थिति में ठेलकर ले जाते गऐ हैं जिसमें कि संवाद की संभावना दिन-ब-दिन कम होती गई है और समाज की एक अमूर्त अवधारणा हमारे ऊपर हावी होती अधिक विकट है।............ 'एक अमूर्त लड़ाई में अमूर्त हथियार बनकर हम समझते हैं कि हम बहुत बड़ा काम कर रहे हैं। सब कुछ अमूर्त हो गया है और जो वास्तविकता है, उसको देखना हमने असम्भव बना दिया है।"

हिंदी के वर्तमान साहित्यिक परिदृश्य को देखते हुए अज्ञेय की यह टिप्पणी कितनी संगत और सटीक है, यह कोई भी देख सकता है जो जानबूझकर अंधा नहीं बनना चाहता। जिस घटना को यहाँ 'लोकतंत्र का विश्वव्यापी उन्मेष' कहा गया है और उससे भी इस स्थिति में अभी तत्काल कोई उल्लेखनीय रूपान्तर घटित हुआ हो, ऐसा लगता नहीं। इस विकार

को परमार्थतः पहचान कर ही हम इसके प्रतिकार की दिशा में प्रभावी तौर पर सचेष्ट हो सकते हैं।

यह तो हुआ अभिव्यक्ति के संकट का एक आयाम। दूसरा संकट उस 'सेकुलरिज्म' के मुखौटे से पैदा होता है जो एक तरफ से हमें अपने ही सत्य से विमुक्त करके एक गहरे आत्म-विच्छेद, आत्म-निर्वासन का शिकार बना देता है और दूसरी ओर वास्तविक अंतर-सांस्कृतिक संवाद और समझ की सम्भावनाओं को भी विकृत करता है। यहाँ पर मैं एक आधुनिक भारतीय दार्शनिक स्व० जे०एन० मेहता के विचारों का हवाला देना उपयुक्त समझता हूँ। उनके कथनानुसार, अपने सुदीर्घ इतिहास में भारत ने दूसरों की अपेक्षा में अपने को परिभाषित करने की जरूरत कभी महसूस नहीं की। न उसने दूसरे के दूसरेपन के अघुलनीय तत्त्वों को स्वीकार किया। इस प्रवृत्ति के चलते किसी वास्तविक टकराहट के ठोस संदर्भ में दूसरे के साथ संबंध स्थापित करने की चुनौती से उलझने की नौबत भी नहीं आई। दूसरा भी रहा आए, हमारे बीच बिना झगड़ा-फसाद के, यह तो निभा, किंतु इस सह-अस्तित्व में किसी ठोस संवाद का पनपना आवश्यक नहीं समझा जाता रहा। संवाद और संघर्ष की बजाय आत्म-संरक्षण की वृत्ति से ही हम परिचालित रहे। मेहता जी का कहना है कि अंत समय आ गया है कि हम समान बिन्दुओं की तलाश से हटकर हमारे और दूसरी संस्कृतियों-धर्मों के बीच जो वास्तविक विभेद हैं, उन पर ध्यान दें और उन दूसरी परम्पराओं के सत्य से सीधी मुठभेड़ की प्रक्रिया अपनाएँ।

किंतु यहाँ हमें सावधानी बरतनी होगी कि ऐसा करते हुए हम कहीं फिर उसी दुश्चक्र में न फँस जाएँ जिससे उबरने के लिए उपर्युक्त 'सीधी मुठभेड़' की प्रक्रिया सुझाई गई है। दूसरी संस्कृतियों के साथ यूरोप का सम्बन्ध उसकी अवधारणात्मक चिंतन-पद्धति के द्वारा निर्धारित होता रहा है। इस अवधारणात्मक बुद्धि की ख़ासियत चीजों को सफाई के साथ एक दूसरे से अलगाने की है जो हेगल के कथनानुसार 'मानवीय बुद्धि की सबसे विस्मयकारी और सबसे महान् शक्ति है'। अलगाने और नकारने की यह ऊर्जा सब कुछ को वस्तुपरक बनाकर देखने की ओर प्रवृत्त करती है और समूचे विश्व के अवधारणात्मक वशीकरण को ही अपना ध्येय और परमार्थ बनाती है। मुझे ऐसा लगता है कि मानवीय बुद्धि और पुरुषार्थ की यह समझ भारत की पारम्परिक दृष्टि से सर्वथा विसंगत है। किंतु आज की दुनिया में रहने वाले हम लोग अपनी सांस्कृतिक विरासत के अलावा जिन अन्य शक्तियों द्वारा गढ़े जा रहे हैं, उनमें सबसे प्रमुख क्या यह दूसरी दृष्टि-योरोपीय दृष्टि-ही नहीं है ? यदि ऐसा है तो समसामयिक जीवन के हमारे इस परिवर्तित संदर्भ का ही तकाजा है कि हम अपनी पावनतामूलक

पारम्परिक दृष्टि को भी नये सिरे से पहचानें और स्वायत्त करें। स्पष्ट ही यह कार्य सरल नहीं है और जो व्यवस्था हमने स्वीकार की है, उसने इसे और भी जटिल बना दिया है, इतना कि इस बारे में बात करना ही दूभर हो गया है।

इस प्रसंग में दो उदाहरणों से अपनी बात स्पष्ट करने की कोशिश की जाय। हमारा बहुदेववाद मात्र मृत परंपरा नहीं, बल्कि अभी भी भारतीय परिवेश की एक जीवन्त वास्तविकता है। क्या इस तत्कथित बहुदेववाद या कि मूर्तिपूजा का अपना गहरा सत्य नहीं है ? उस सत्य या मूल्य को नई समझ से स्वायत्त करके हम–दूसरी सभ्यताओं ने उसके बारे में जो पूर्वाग्रह फैला रक्खे हैं–उनका सचोट प्रत्याख्यान कर सकते हैं। क्या वैसा करना स्वयं विश्वव्यापी मानवता और वर्तमान लोकतांत्रिक उन्मेष के हित में नहीं ? इसी तरह श्रुति, अवतार तथा वाक् को लेकर आज हम भारतीय न केवल पाश्चात्यों से कहीं अधिक अलगावग्रस्त हैं, बल्कि उनका जीवन्त अर्थबोध ही खो चुके हैं। अर्थबोध ही क्यों, उस भाषा से भी हमारा संबंध विच्छिन्न हो गया लगता है जिसमें हम उनके बारे में विचार भी कर सकते। विडम्बना यह है कि हमारे टूटे–फूटे 'सेकुलराइज्ड' परिवेश में इन बातों की चर्चा करना ही बुद्धिजीवियों की बिरादरी से बाहर कर दिए जाने का खतरा मोल लेना है। क्या यह भी अभिव्यक्ति का संकट नहीं, और क्या बिना इससे उबरे अपने लोगों के साथ और स्वयं अपनी बुद्धि के साथ हमारा संबंध संदिग्ध नहीं हो जाता ?

प्रोफेसर मेहता जैसे दार्शनिक बुद्धिजीवी हमें बताते हैं और ठीक ही बताते हैं कि उस लुप्त अर्थ की पुनरुपलब्धि का प्रयत्न हमारी धार्मिक चेतना की और स्वयं हमारे बुद्धिजीवन को भी उसकी अपनी धुरी पर प्रतिष्ठित करने के लिए अनिवार्य है। इस नवीकृत समझ के धरातल पर ही हम फिर यह जिज्ञासा उठा सकेंगें कि ईसाई या यहूदी या इस्लामी मतवाद यदि हमारे विश्वास से अलग है तो किस मानी में अलग है ? किस मानी में ऐतिहासिकता का विचार इस बिलगाव या कि अंतर का केन्द्रीय तथ्य बनता है ? पिछले दो सौ वर्षों के दौरान ऐतिहासिक चेतना का उदय और विकास यदि आधुनिक बुद्धिजीवन का घनिष्ट अंग बन गया है तो इस तथ्य को हमारी चेतना किस तरह झेलती और विन्यस्त करती है ? यह भी, कि उसके कारण हमारे परंपरा–बोध में कैसा, क्या विचलन आया है या कि नहीं आया है ? अब जैसे, उदाहरण के लिए अज्ञेय मानते थे कि "अवस्थिति का अद्वितीय बोध भारतीय चरित्र की एक विशेषता है और यह उस कमी को पूरा कर देता है जिसे इतिहास–बोध कहा जाता है।" किंतु साथ ही साथ, वे हमारे परिवेश के इस दारुण तथ्य के प्रति भी

अत्यन्त सजग थे कि "हमें निरंतर इतिहास-बोध की दीक्षा दी जा रही है और अवस्थिति-बोध का संस्कार मिटाया जा रहा है।" आखिर क्या कारण है कि हमारे साहित्यकर्मियों का ध्यान इसकी ओर नहीं जाता ? ध्यान नहीं जाता-यह शायद उतना सच नहीं है जितना यह कि जो व्यवस्था हमने निर्मित की है, उसमें ऐसे प्रश्नों को उठाना ही अनर्गल और अनावश्यक मान लिया गया है। कम से कम, उन्हें उठाने वालों का स्वर अमूर्त 'समाज'- वादियों, प्रगतिवादियो और अमूर्त 'जन'वादियों के तुमुल कोलाहल में खो ज़रूर जाता है। तो क्या यह भी अपने आप में अभिव्यक्ति का संकट नहीं कि जो प्रश्न हमारे सांस्कृतिक जीवन-मरण के प्रश्न हैं, वही इस परिवेश में अप्रासंगिक करार दे दिये जायँ।

इसी तरह श्री विजयदेवनारायण साही के लेखन मे हम भासजनित पावनता और पावनताजनित बोध के लिए वैश्विक महत्त्व के प्रश्न को उभरते देखते हैं, मुझे नहीं लगता उसकी जो अनदेखी हुई है, वह अकारण हैं इसमें कुछ हमारे उस आधुनिकतावादी दौर के साहित्यिक चिंतन का भी दोष है जिसने धर्म और धर्मनिरपेक्षता की सतही समझ के चलते समूचे मध्यकाल की सृजनात्मक उपलब्धियों से अपने को काट लिया था।

सत्य की ही नहीं, मूल्यों की भी हमारी आज की कसौटियाँ वे नहीं हैं जो हमारे पारंपरिक दर्शनों और जीवनानुभवों में से निकलती हैं। पर ऐसा भी नहीं है कि हमने सचमुच नई कसौटियाँ गढ़कर उन्हें अप्रासंगिक साबित कर दिया हो। कारण सिर्फ यही नहीं है कि दर्शन के क्षेत्र में हमने मौलिक चिंतन का काम करना कभी से बंद कर दिया है उसकी कुछ न कुछ क्षतिपूर्ति तो जीते-जागते महात्माओं, कर्मज्ञों और साहित्यकारों ने की ही है। जीवन में भी वह पूरी तौर पर नष्ट-भ्रष्ट हो गई हो, ऐसा दावा अभी नहीं किया जा सकता। असफलता जो है, वह उन बुद्धिजीवियों की है जिनके बुद्धिजीवन की कसौटी ही संदिग्ध और आरोपित हैं। अपनी संस्कृति के मूलाधार से ही अलग और बेमेल यह अनुवादजीवी वृद्धि और उसकी उपज भी इसी कारण हमारे परिवेश में निष्प्रभावी हो जाती है। सही बात तो यह है कि हमने अपनी 'बुद्धि' की जमीन पर खड़े होकर कभी पश्चिमी बुद्धिवाद और उसके निष्कर्षों को चुनौती देने की जरूरत ही महसूस नहीं की। इसीलिए, यह अचरज की बात नहीं कि 'हिन्द स्वराज' को भी हमारे बुद्धिजीवियों के वैचारिक स्वराज का सहयोग प्राप्त नहीं हुआ। कभी-कभी तो ऐसा लगने लगता है, जैसे सत्याग्रह और असहयोग के पीछे भी दरअसल हमारे बुद्धिजीवियों का नहीं, केवल 'गूँगे-बहरे करोड़ों' की श्रद्धा का ही बल था। अब यह बात दूसरी है कि इस देश में श्रद्धा भी परंपरागत दार्शनिक बुद्धि से ही प्रेरणा पाती है। मगर यह भी सच है

कि श्रद्धा और बुद्धि के बीच, इतनी साफ दरार शायद पहले कभी नहीं रही। जीवन के सभी क्षेत्रों में जिस तरह समाज की स्वतःस्फूर्त पहल क्षीण पड़ती जा रही है, वह इसका प्रमाण है। साहित्य, जहाँ सबसे अधिक प्रतिरोध-सामर्थ्य और सबसे अधिक स्वाधीनता के प्रकट होने की संभावना रहती है, वहाँ भी अरसे से एक परोपजीवी पुण्यात्मापन का ही बोलबाला दिखाई देता रहा है।

प्रतिदान-रहित आदान किसी देश की संस्कृति के लिए कितना साधक हो सकता है, इस खतरे को राष्ट्रकवि ने सत्याग्रह-युग के दौरान ही सूँघ लिया था : 'है आदान एक अपमान, कर न सकें यदि हम प्रतिदान'. ....। निराला भी अपनी संस्कृति की 'छिन्न-भिन्नता' के यथार्थ, से उद्विग्न हैं, उनकी कविता में उस 'अकल कला' की सिद्धि का आश्वासन नहीं, बल्कि उसकी खोज की पीड़ा ही बोलती है जो उस 'सकल छिन्न' को जोड़ेगी। ऐसा सांस्कृतिक पुरुषार्थ उन्हें जिस एक कवि में दिखाई देता है, उसी का आवाहन वे 'तुलसीदास' में कर रहे हैं। दास्योत्तर भारत में भी कवि अज्ञेय शस्य-श्यामला मिट्टी के रुँधे हुए ताप से पोसे जा रहे एक ऐसे विष-वट को देखते और दिखाते हैं जिसमें शाप फलने वाले हैं। क्या है वह ताप, वह विष-वट, जिसमें शाप फलने वाले हैं ? 'हिंद स्वराज' में भी क्या शाप' की बात नहीं की गई थी-दो-दो धरातलों पर ? एक तो यह कि "गरीब हिंदुस्तान तो गुलामी से छूट भी जायेगा, लेकिन अनीति से पैसेवाला बना हुआ हिंदुस्तान गुलामी से कभी नहीं छूटेगा। और दूसरा यह, कि ....हमारे विचार प्रकट करने का जरिया है अंग्रेजी। अगर ऐसा लम्बे अरसे तक चला तो मेरा मानना है कि अपने वाली पीढ़ी हमारा तिरस्कार करेगी और उसका शाप हमारी आत्मा को लगेगा।.......... अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए लोगों ने प्रजा को ठगने और परेशान करने में कुछ भी नहीं उठा रक्खा है।............राष्ट्र की हाय अंग्रजों पर नहीं, हमीं पर पड़ेगी।"

समसामयिक परिदृश्य में वह अनीति का नव-धनाढ्य फूहड़पन, वह अनुवादजीवी मानसिकता का शाप फलीभूत नहीं हो रहा है, ऐसा मानने वाले लोग भी हो सकते हैं और उन्होंने अभिव्यक्ति के इस संकट को भी पैदा किया है जिसकी चर्चा शायद यहीं अभीष्ट थीं। सन् १९२७ में दर्शनाशास्त्री कृष्णचंद्र भट्टाचार्य ने 'वैचारिक स्वराज' का सवाल उठाया था। उन्होंने अपने समकालीन बुद्धिजीवियों के बुद्धिकौशल को मौलिक नहीं, बल्कि छाया-मस्तिष्क चालित, छायाजीवी निरूपित किया था। क्या सन् १९९० में हमें अपना आचरण गुणात्मक दृष्टि से बहुत भिन्न लगता है ? इस सवाल का यदि हम सचमुच सामना कर सके तो हमारी इस

लोकतांत्रिक व्यवस्था में अभिव्यक्ति के जिस संकट का अनुभव हम करते हैं या नहीं करते, उसे दूर करने का उपक्रम भी किसी कदर संभव हो सकेगा। अपवाद तो सदैव रहते हैं और वे अपवाद ही आशा का आधार भी होते हैं, निराशा के कर्तव्य भी वही सुझाते हैं। किंतु उनकी अपवादी उपस्थिति ही क्या प्रकारान्तर से हमारे इस उदासीन और 'सिनिकल' परिवेश की उदासीनता और मूल्यगूढ़ता को और भी अधिक गाढ़ा रंग देकर नहीं उभारती ? क्या इसका अर्थ यही निकला कि अब आज की तारीख में हमें उसी वैचारिक स्वराज की आवश्यकता को नये सिरे से और नये संदर्भों में-एक नहीं अधिक विकट चुनौतियों वाले संदर्भ में-फिर से परिभाषित और प्रतिपादित करने की जरूरत है ? ऐसा यदि हम कर सकें तो हम अपने लोकतंत्र को अपनी वास्तविक आत्माभिव्यक्ति का उपकरण बना सकेंगे और अपनी दुर्बलताजन्य सुविधाओं से भी पार पा सकेंगे।

❑❑❑

३ अगस्त १६६० को कवि-दिवस के अवसर पर आयोजित चतुर्दिवसीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख।

लोकतांत्रिक समाजवाद में साहित्य की भूमिका

श्री विजयदेवनारायण साही

डॉ० राममनोहर लोहिया के शब्दों में समाजवाद अधिक-से-अधिक और कम-से-कम आमदनी के बीच की खाईं को एक पूर्वनिश्चित क्रम के अनुसार, लगातार कम करके, किसी समय या किसी काल में अधिक बराबरी हासिल करने का विचार-दर्शन है या आय की संगत और संभव समता के लिए प्राचीन काल से ही विचार और प्रयोग होते रहे। कहते हैं कि सम्राट नु-मि-तिङ् ने अपने राजकोष की समस्त धनराशि को प्रजाओं में बराबर-बराबर बँटवाया था, किंतु उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब प्रजाओं में बाँटी गई धनराशि थोड़े ही समय बाद, राजकोष में वापस लौटी आयी। समता की व्यवस्था प्रदर्शित करने के निमित्त कृतनिश्चय होकर जब सम्राट् राजव्यवस्था के उस रहस्य का पता लगाने के लिए निकला जिसके कारण गरीबों के पास से सिंमट-सिमट कर धनियों के पास धनराशि स्वयमेव चली आया करती है, तो उसे मार डाला गया। सम्राट् नु-मि-तिङ् को महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने विश्व का पहला समाजवादी कहा है। किंतु यह कहना कठिन है कि दान के द्वारा अपने राजकोष को प्रतिवर्ष रिक्त कर देने वाले भारतीय सम्राट् रघु की कथा नु-मि-तिङ् की उक्त कथा से कम प्राचीन है।

आधुनिक युग में राबर्ट ओवेन का प्रयोग भी लगभग ऐसा ही था। ओवेन अपनी पूँजी लगाकर एक ऐसा औद्योगिक द्वीप बसाना चाहता था जिसमें शक्ति के अनुसार श्रम करने और आवश्यकता के अनुसार सामान प्राप्त करने की सुविधा पर आधारित समता की व्यवस्था जारी की जा सकती। ओवेन की इस सदिच्छा के परिणाम को प्रयोगशाला-समाज-वाद कहकर विचारकों ने गलती नहीं की। ढाई दशाब्द पहले इस प्रकार के सत्प्रयासों की चर्चा करते-करते श्री जयप्रकाश नारायण ने लिखा था कि प्रयोगशाला में शीशे पर सात रंगों की किरणें उतारना और बात है,

इन्द्रधनुष उगाना और बात। श्री जय प्रकाश नारायण को उस समय उनके अनुयायी भारत का लेनिन कहते थे। पर यह तथ्य आगे चलकर श्री जयप्रकाश नारायण ने नहीं, डॉ० लोहिया ने स्पष्ट किया कि यूरोप का समाजवाद, वह ख्वाब हो या वैज्ञानिक, पैमाने के बड़े होने के कारण और भी खतरनाक ढंग का प्रयोगशाला समाजवाद ही है क्योंकि उसके पीछे शेष जगत् के शोषण और अपमान के आधार पर यूरोप को चमकदार बनाने की योजनाबद्ध ऐतिहासिक घटनाएँ और विचार-दर्शन हैं।

समता को प्रचार द्वारा लोकप्रिय बनाकर जनमत के आधार पर बनी सरकारों के द्वारा समाजवाद कायम करने की कल्पना यूरोप के सामाजिक लोकतंत्रियों ने भी की थी। पर वे अपनी और करतूत से इतने बदनाम हो चुके थे कि मार्क्स और एन्गेल्स ने जब यूरोपीय सर्वहारा वर्ग की 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' की रचना की तो उसकी भूमिका में उन्होंने ऐसा स्पष्ट कर दिया कि वे अपने ग्रंथ का नाम 'सोश्यलिस्ट मेनिफेस्टो' भी रख सकते थे। पर ऐसा उन्होंने नहीं किया, क्योंकि सामाजिक लोकतांत्रियों के चलते यूरोप में समाजवाद बदनाम हो चुका था। यह दूसरी बात है कि इन कम्युनिस्ट नेताओं ने भी अपने विचार-दर्शन को वैज्ञानिक समाजवाद कहने में किसी संकोच का अनुभव नहीं किया। फिर भी इस संप्रदाय के विचारकों ने समाजवाद के प्रति एक प्रकार की हीन धारणा बनाये रखी और यह उसी का परिणाम है कि ट्राट्स्की ने समाजवाद को साम्यवाद के पहले की व्यवस्थापक अन्तर्दशा के रूप में व्याख्येय बताया। लोकतांत्रिक समाजवाद को बराबर यूरोपीय सामाजिक लोकतंत्रियों की तफशील में समझते रहे और कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो के संबंध में अपनी टिप्पणी देते समय ट्राट्स्की ने लिखा है कि जनमत के नाम पर बनी यूरोप की ये समाजवादी सरकारें वस्तुतः शोपक वर्ग की कार्य-समितियाँ हैं और यदि उस वर्ग की स्वार्थरक्षा में उनसे थोड़ी भी चूक होती है तो उन्हें जूते मार करा बर्खास्त कर दिया जाता है। ऐसे ढुलमुल समाजवाद के मुकाबले में साम्यवाद द्वारा अपने को वैज्ञानिक साम्यवाद कहना उचित ही था।

लोकतंत्र का नाम लेने वाले समाजवादियों से कुपित रहने के बावजूद मार्क्सवादी विचारकों ने समाजवाद और लोकतंत्र के सम्बन्ध के प्रसंग में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कहीं हैं। लोकतंत्र को स्पष्ट गर्हित करते उन्हें प्रायः संकोच होता रहा है। वे जब लोकतंत्र की निंदा करते हैं तो प्रायः इसलिए कि लोकतंत्र के नाम पर शोषण के नकली राजनीतिक न्याय और समता में छिपने की माँद मिल जाया करती है। ट्राट्स्की जैसे मार्क्सवादी विचारक तो स्पष्टतः ऐसा मानते रहे हैं कि लोकतंत्र समाजवाद में ही चरितार्थ हो सकता है पर लोकतंत्र की पूर्ण चरितार्थता के लिए, उनके

अनुसार यह आवश्यक है कि पूँजीवाद से समाजवाद में तब्दील होने वाली व्यवस्था की स्थिति के अनुसार, जनमत को सुरक्षित और सीमित कर दिया जाय। ऐसा न करने पर पूर्व-सत्तारूढ़ शोषक वर्ग का हथकण्डा होकर लोकतंत्र का समाजवाद के विरोध में उपयोग हो सकता है। इस संकट से बचाव के लिए वांछनीय यह है कि पूर्वसत्तारूढ़ शोषक वर्ग को प्रचार और मतदान के अधिकार से तब तक के लिए वंचित रखा जाय जब कि नवसत्तारूढ़ सर्वहारा वर्ग पूर्णतः दृढ़ और प्रतिष्ठित नहीं हो जाता और समाज में वर्गभेद का अंत नहीं हो जाता। इस वर्ग के विचारकों के अनुसार, सर्वहारा वर्ग की अभिव्यक्ति प्रायः कम्युनिस्ट पार्टी के द्वारा होती है। अतः पूँजीवादी व्यवस्था ने नकली लोकतंत्र से समाजवादी व्यवस्था के वास्तविक लोकतंत्र के बीच संक्रान्ति-काल में पहले एकदलीय अधिनायकतंत्र, फिर सर्वहारा वर्ग के बहुदलीय अधिनायकतंत्र और अंत में पूर्ण लोकतंत्र की ष्यवस्था क्रमशः सम्भव है। पर इतिहास की विडम्बना ने वैज्ञानिक समाजवाद की इस कल्पना को कभी पूरी नहीं होने दिया। स्वयं रूस में कम्युनिस्ट दलीय अधिनायकवाद सर्वहारा वर्ग के प्रजातांत्रिक अधिनायकवाद में विकसित होने के बजाय, एक संकीर्ण राजनीतिक गुट के और फिर लगभग एक व्यक्ति के अधिनायकतंत्र में बदल गया जिसके परिणामस्वरूप केवल ट्राट्स्की की ही नहीं, रूसी क्रान्ति की लाल समिति के कुल पचीस सदस्यों में से दस की देर-सबेर हत्या की गई और राजशक्ति के केन्द्रीकरण की यह प्रवृत्ति इतनी असहनशील और आक्रामक हो गई कि दूसरे कम्युनिस्ट देशों को भी सत्ता के विकेन्द्रीकरण का अधिकार प्रथम साम्यवादी गणतंत्र के हाथों ही छिनने लग गया और इसका ताजा उदाहरण है-चेकस्लोवाकिया के अन्दरूनी मामले में रूस का सशस्त्र हस्तक्षेप।

वैज्ञानिक समाजवाद की दूसरी निर्णायक भविष्यवाणी का भी लगभग ऐसा ही हाल हुआ। मार्क्स ने कहा था कि पूँजीवाद की आंतरिक असंगतियाँ उसे दो खेमे में बाँटकर नष्ट करे देंगी और वातापी की तरह पूँजीतंत्र का पेट फाड़कर सर्वहारा वर्ग की अगुवाई में समाजवाद प्रकट होगा। देखते-देखते इतिहास ने उन्नीसवीं सदी के यूरोप के बड़े कर्मठ दार्शनिक की इस भविष्यवाणी की भी विडम्बना कर डाली जब पूँजीवाद के व चरम रूप साम्राज्यवाद के तथाकथित अंतिम आत्मयुद्ध के दोनों ही पक्षों में सोशलिस्ट गणतंत्र बारी-बारी से सम्मिलित हुआ और उसके सहयोग से हीरोशिमा पर अणुबम फेंका गया, पोलैण्ड और मार्क्स की जन्मभूमि जर्मनी का विभाजन हुआ तथा भारत के अंतिम स्वतंत्रता-युद्ध का अमानुषिक ढंग से दमन किया गया। इतना ही नहीं, दूसरे विश्वयुद्ध के एक दशाब्द बीतते-बीतते साम्यवाद की अपनी आंतरिक असंगतियाँ ही रूस और चीन

के दो विरोधी खेमों में प्रकट हो गईं और पूँजीवाद से पहले ही, जैसे साम्यवाद आत्महत्या के लिए आतुर दिखाई पड़ने लगा।

यह सत्य है कि वैज्ञानिक समाजवाद के तर्कों ने लगभग एक सदी तक हर विचारधारा को पराजित और मौन बनाये रखा। किंतु यह भी सत्य है कि कोई विचार अपने तईं दूसरे विचार या विचारों को खण्डित नहीं कर पाता। हर विचार बरते जाने के क्रम में स्वतः अपना खण्डन और मण्डन करता है। साम्यवादी देशों और नेताओं के आचरण से साम्यवादी विचार इस दृष्टि से खण्डित हो चुका है और इतिहास ने अब वैज्ञानिक समाजवाद की अवैज्ञानिकता जाहिर कर दी है।

विरुद्धताओं के अविरोध द्वन्द्वन्याय पर आधारित वैज्ञानिक समाजवादी ने अधिनायकवाद के द्वारा पूर्ण प्रजातंत्र की स्थापना, रूस की पिछलग्गू राष्ट्रीय नीतियों के आधार पर विश्वराज्य की स्थापना, रक्तक्रान्ति द्वारा समाज की शांतिपूर्ण व्यववस्था और धर्मनिरपेक्ष नास्तिकता के द्वारा विश्वबंधुत्व के सदाचारी समाज की शांतिपूर्ण व्यवस्था और धर्मनिरपेक्ष नास्तिकता के द्वारा विश्वबन्धुत्व के सदाचारी समाज के प्रवर्तन की प्रतिश्रुति लेकर लगभग एक सदी तक हर देश की युवा पीढ़ियों को उलटबाँसी में उलझाये रखा और संसार के शेष भाग इस यूरोपीय जादूगरी की लम्बी डींगों के सच होने की प्रतीक्षा में उसका आज्ञापालन भर करते रहे।

पूँजीवाद के पौढ़ होने तक की प्रतीक्षा में पिछड़े देशों के वैज्ञानिक समाजवादी जब रूस से इहलाम माँग रहे थे जिसने खुद विनती की तरह दासत्वमुक्ति के लिए समय में उतावली दिखाई थी, तो मानवता के नेता महात्मा गाँधी ने तरस खाकर कहा था–

मैं अपने को समाजवादी कहता हूँ............ लेकिन मैं समाजवाद का उपदेश नहीं करूँगा जिसका अधिकतर समाजवादी करते हैं। (पृ० १२) .... पूँजीवालों से उनकी पूँजी हिंसा के जरिये छीनी जाय, इसके बजाए यदि चरखा और उसके सारे फलितार्थ स्वीकार कर लिए जायँ तो वही काम हो सकता है (पृ० १)।" यह समाजवाद स्फटिक की तरह शुद्ध है। इसलिए उसे सिद्ध करने के साधन भी शुद्ध ही होने चाहिए। अशुद्ध साधनों से प्राप्त होने वाला साध्य भी अशुद्ध ही होता है (पृ० ७)। सुनहला नियम तो यह है कि जो चीज लाखों लोगों को नहीं मिल सकती, उसे लेने से हम भी दृढ़तापूर्वक इन्कार करे दें (पृ० २०)। हमारें पास जो कुछ भी है, उस पर हमारा और आपका तब तक कोई अधिकार नहीं है जब तक सभी लोगों के पास पहनने के लिए पूरा कपड़ा और खाने के लिए पूरा अन्न नहीं हो जाता (पृ० २०)। यदि हरेक आदमी जितना उसे चाहिए, उतना

ही ले, तो दुनिया में गरीबी न रहे और कोई आदमी भूखा न मरे। (पृ० २६)

लोकतांत्रिक समाजवाद के ये सूत्र कालान्तर में एक ऐसे मसीहा के द्वारा व्यवस्थित और स्थापित किये गये जो अपने को, सरकारी और मठी गाँधीवादियों से अलग, कुजात गाँधीवादी कहते थे। यह मसीहा थे-डॉ० राममनोहर लोहिया।

डॉ० लोहिया ने समाजवाद के पाँच अवयवों के रूप में लोकतंत्र, अल्प पूँजी उद्योग, विकेन्द्रीकरण, अहिंसा और अन्तर्राष्ट्रीयता-संगतराष्ट्रीयता की स्थापना की और उनके प्रसंग में नर-नारी की असमानता मिटाने के लिए, रंगभेद पर रखी गई आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और दिमागी असमानता मिटाने के लिए, पुराने संस्कारों पर आश्रित पिछड़े और ऊँचे समूहों या जातियों की असमानता के विरुद्ध पिछड़ों को विशेष अवसर देने के लिए, स्वतंत्रता हेतु परदेशी गुलामी के विरुद्ध तथा विश्वलोकराज के लिए, आर्थिक समानता के निमित्त निजी पूँजी की संस्था तथा मोह के विरुद्ध लोकतंत्रीय तरीकों के लिए तथा अस्त्र-शस्त्र के विरुद्ध अहिंसक सत्याग्रह के लिए समतामूलक आदर्श की सात क्रांतियों की व्यवस्था दी। उन्होंने, वैज्ञानिक समाजवाद के विचारकों ने प्रचलित पूँजीवाद की असंगतियों के परिपाक के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए बताया कि पूँजीवाद ही नहीं, हर व्यवस्था की कमर तब तक अपने ही बोझ से टूटती रहेगी जब तक एक देश, वर्ग या वर्ण का उत्कर्ष दूसरे देशों, वर्गों या वर्णों के अपकर्ष पर आधारित रहेगा और कमजोर को विशेष संरक्षण देकर बलशाली उसे अपनी समकक्षता में नहीं ले आयेंगे।

डॉ० लोहिया पहले विचारक हैं जिन्होंने बताया कि यदि अधिकतम उपादेयता की जगह पूर्ण सार्वत्रिक उपादेयता को लक्ष्य नहीं माना जाय, सबल राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों का शोषण और दोहन करते रहे, यदि अगलों के द्वारा पिछड़ों का अपमान किया जाता रहा, गाँवों को शहरों के द्वारा और श्रम को पूँजी के द्वारा लूटा जाता रहा, तो इतिहास की चक्की चलती रहेगी और सभ्यता और समृद्धि की हर इमारत अपने ही बोझ से टूट कर गिरती रहेगी। अपनी इस आन्तरिक असंगति के केवल अमरीकी पूँजीवाद का ही नहीं, रूसी और चीनी साम्यवाद का भी सर्वनाश अवश्यम्भावी है। पुरुष पुरातन की प्रिया आज तक एक घर से दूसरे घर एक देश से दूसरे देश एक सभ्यता से दूसरी सभ्यता में भटकती रही है। काबुल से अमेरिका, ग्रीक से रूस भारत से अरब जाकर वह कुछ नई रोशनी नहीं लाती, पुराने दिये की बुझी लौ को केवल नये दिये में लगा देती है। इतिहास के इस चक्रभ्रमण के भ्रम के अंत के लिए उन्होंने लोकतांत्रिक समाजवाद के सगुण,

सक्रिय रूप की स्थापना की। वस्तुतः डॉ० लोहिया की इन स्थापनाओं ने लोकतांत्रिक समाजवाद को अंतर्राष्ट्रीय जागरण और संयोजन के उपयुक्त संघर्षों के लिए कारगर विचार-दर्शन बनाया। लोकतांत्रिक समाज की 'समता' वस्तुतः मानवता का पर्याय हो गयी है और इस प्रसंग में स्वयं डॉ० लोहिया ने फर्माया कि "समाजवाद मनुष्य जाति की, मनुष्य जाति के लिए, मनुष्य जाति द्वारा सरकार का विचार-दर्शन है, ताकि एक ओर जनता की, जनता के लिए और जनता के द्वारा सरकार हो तथा दूसरी कम्यून की, कम्यून के लिए और कम्यून द्वारा सरकार हो।"

लोहिया लेनिन और गाँधी के बाद आये थे, इसलिए वे उन दोनों से और आगे की बातें कह गये और करा, यह स्वाभाविक ही था। गाँधी और लेनिन संत और कमाण्डर, धर्म और राजनीति का और भी अनोखा मेल उनके द्वारा निश्चय ही सम्भव था। उन्होंने यह तो बताया था कि धर्म दीर्घकालीन राजनीति है और राजनीति अल्पकालीन धर्म है। उन्होंने यह भी कहा था कि राजनीति बुराइयों से लड़ना है और धर्म अच्छाइयों को बरतना है और इसी प्रसंग में राष्ट्रों के अलग-अलग चौखम्भा राज्यों को अपने विशिष्ट योगदान से जनमत और समता के आदर्श पर आधारित एक अहिंसक पंचायती विश्वराज्य की रचना है। किंतु धर्मनिरपेक्षता की राजनीति में अपने उपयुक्त साहस की यह बात कहने के पहले ही वे गुजर गये। वैसे विश्वराज्य की स्थापना और संचालन वस्तुतः विश्वधर्मों के ही आधार पर सम्भव है। फिर भी इसमें नहीं कि उन्होंने लोकतंत्र और समाजवाद की अपलापक असंगतियों में अधिकांश का निराकरण किया और नई संगतियों की योजना की। पर जहाँ तक इतिहास के नियति-व्यंग्य की बात है, लोहिया की भी अपने अनुयायियों के हाथ वही गति हुई जो लेनिन और गाँधी की, उनसे पहले, अनुयायियों के हाथ हो चुकी थी और उस इकाई पर चढ़ने वाले सारे शून्य समाजवाद और लोकतंत्र के सूफी फ़कीर के सपनों को शून्य करते चले गये। यह दुर्भाग्य की बात है कि सर्वहारा वर्ग के रूसी और चीनी अधिनायक जिस प्रकार शक्ति को केन्द्रित करते जा रहे हैं, जनतंत्र की शपथ खानेवाले, लोकतांत्रिक समाजवाद के भारतीय नेता केवल अवसर के अभाव में, उस अनुष्ठान में, उनसे पीछे रह गये हैं और एक महान् तपोमय तथा धीर फ़कीर के अनुयायी और ऋषियों और तपस्वियों की भूमि के निवासी होकर भी वे शक्ति और भोग के मोह से मुक्त होकर लोकतांत्रिक समाजवाद के फूल के नवजात पौधे की जड़ में अपनी देह और मन खाद बनाकर नहीं ढाल सके। संभवतः इसका कारण यह है कि विश्व की अगली सभ्यत शक्ति के द्वारा नहीं ढाल सके। संभवतः इसका कारण यह है कि विश्व की अगली सभ्यत शक्ति के द्वारा नहीं.

तपस् और तितिक्षा के द्वारा स्थापित होगी और उसके पहले इतिहास की छिन्नमस्ता शक्ति केन्द्रों को संपूर्णतः ध्वस्त और कदर्थित करने का औचित्य विज्ञापित करने लग गई है।

लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रत्यय-विकास के क्रम में समता के मात्रा-भेद से "मानवता" के पर्याय के रूप में गुणभेद स्वयं में एक अजीब मनोज्ञ सैद्धान्तिक सिद्धि है। डॉ० लोहिया की स्थापना ने वस्तुतः लोकतांत्रिक समाजवाद को मानवता और उसके भविष्य की आशाप्रदता का पर्याय बना दिया है। इस प्रसंग में यह आवश्यक ही है कि साहित्य, जो स्वयं मानवता के अनेक महत्त्वपूर्ण पर्यायों में अन्यतम है, अपने स्वभाव और स्वधर्म की प्रेरणा से लोकतांत्रिक समाजवाद को प्रतिष्ठित और सस्वर करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका चरितार्थ करे।

यह अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण घटना है कि गाँधी जी ने २०.२.३७ के "हरिजन" में जब समाजवाद के प्रसंग में लिखा था, तो उन्हें भारत के आर्य साहित्य का स्मरण हो आया था। उन्होंने लिखा है :

"समाजवाद का जन्म उस काल में नहीं हुआ था जब यह पता लगा कि पूँजीपति पूँजी का दुरुपयोग करते हैं। जैसा कि मैंने कहा है, समाजवाद ही नहीं, साम्यवाद भी ईशोपनिषद् के पहले मंत्र में स्पष्ट है।" और यह निरा संयोग नहीं है कि सच्चे समाजवाद का जब उससे पहले २.१.३७ को 'हरिजन' में उन्होंने निरूपण किया था, तब भी उन्हें हिंदी के भक्त कवि का एक दोहा स्मरण हो आया था : 'सबै भूमि गोपाल की'। उन्होंने लिखा है :

"सच्चा समाजवाद तो हमें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ है जो हमें यह सिखा गये हैं : 'सब भूमि गोपाल की है, उसमें कहीं मेरी और कहीं तेरी की सीमाएँ नहीं हैं। ये सीमाएँ आदमियों की बनायी हुई हैं और इसलिए इन्हें तोड़ भी सकते हैं।"

साहित्य समाजवाद का लगभग समानधर्मा है, इसका एक बहुत बड़ा कारण उसके माध्यम भाषा का स्वरूप और स्वभाव है। भाषा स्वभावतः सामाजिक सामग्री है और उसके वैयक्तिक संचय का प्रश्न ही अस्वाभाविक हैं मनुष्य शेष प्राणियों से अपनी जिस मनस्थिता के आधार पर श्रेष्ठ होने का गर्व करता है, उस मन का वह अधिकरण है और जिस आत्मवत्ता के कारण वह सच्चिदानंद का अर्हत् पात्र है, भाषा को उस आत्मा का अंश कहा गया है। औज़ार बनाने और चलाने वाले सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य के विकास के प्रसंग में कहते हैं कि श्रम के क्रम में हाथ और मन के साथ भाषा भी उपज आयी और इसलिए कर्म और चिंतन की वह यमजा-सहोदरा है। पंचतत्त्वों में सर्वाधिक सूक्ष्म आकाश तत्त्व

का गुण होकर वह प्रत्येक अभिधेय का अभिधान ही नहीं करती, उनके उपादान में भी सतत विद्यमान रहती है।

इस सूक्ष्म, सामाजिक, आकाशमनोमय माध्यम का जो परम साम्यमय, अतः अन्तर्राष्ट्रीय और अकस्यचित्कर रूप है, साहित्य के लिए उसे ही अपेक्षाकृत अधिक उपर्युक्त बताया गया है। वाणी का जो भाग कर्णकुहर में कम्पन फैलाकर चुक जाता है, वह साहित्य का नहीं, संगीत का द्रव्य है साहित्य की भाषा तो उसके निःशेष हो जाने पर ही अपनी अशेष शक्ति के साथ जगती है। किंतु उन शक्तियों में भी अभिधा और लक्षणा से जो अधिक सूक्ष्म है, अब व्यंजना को साहित्य के लिए पसंद किया जाता है। इस सूक्ष्म व्यंजना को भी साहित्य के उपयुक्त कैवल्य प्राप्त करने के लिए ध्वनि बनकर सूक्ष्मतर विदेहत्व से सूक्ष्म होता है और इस सूक्ष्म रूप में भाषा की द्राक्षा का केवल आस्वादमय रस बच रहता है, छिलके, गूदे और गुठली के हिस्से छूटकर छिटक गये होते हैं। सच्चा साहित्य, इस प्रकार, महज भाषा से नहीं, भाषा की तपस्या-अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियं हितं च यत्-से फलित होता है। इस रूप में साहित्य का स्वभाव ही समतामय होता है, ऐसा रस के साधारणीकरण और समूहवद्धात्मकता से स्पष्ट है। इसी समता को विनोबा जी अहिंसा कहते हैं। उत्तम साहित्य अभिधायक नहीं, सूचक होता है, बिना आहट के हम में अँट जाता है। साहित्याचार्यों ने साहित्य के ऐसे अहिंसामय निवेदन को कान्तसम्मित उपदेश कहा है जो साम्यमय और अहिंसामय, अतः प्रेममय है, वह सबका होकर एक है इसलिए साहित्य स्वभावतः अन्तर्राष्ट्रीय है। सिकन्दर और तैमूर, हिटलर और चर्चिल भले ही किसी देश के हीरो हों, पर होमर और फ़िरदौसी, गेटे और शेक्सपियर हम सभी के हैं। अंग्रेजी और ग्रीक भाषा हमारी जीभ काटने वाली तलवार हो सकती है, पर उन्हीं भाषाओं में लिखित "इलियड" और "बर्न्ट नार्टन" तो हमारा हृदय-हार हैं। सच्चा साहित्य वस्तुतः हर किसी का स्वदेश, हर किसी की धात्री है, वह अंतर्राष्ट्रीय नर-सम्पत्ति है :

'कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।'

साहित्य स्वभावतः लोकतांत्रिक समाजवाद का समानधर्मा है, क्योंकि वह परस्मैपदान रस की सदानीरा होने के कारण सहृयता, प्रेम, अहिंसा और समता के सर्वजनीन अंतर्राष्ट्रीय स्वदेश को नर-जाति के भावक्षेत्र में प्रतिष्ठित करता आया है और उसका माध्यम भाषा स्वभावतः सूक्ष्म, सामाजिक और विकेन्द्रणोन्मुख हैं महज इस तथ्य से लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रति साहित्य की भूमिका चरितार्थ नहीं हो जाती। स्वभाव अन्ततः एक विशिष्ट प्रकार की सम्भावना भर होता है और सम्भावना की चरितार्थता

के लिए साधना की अपेक्षा होती है तथा साधना के लिए साधक की।

साधक के अभाव में अथवा अन्यथाभाव में साहित्य के प्रकृत धर्मों का साहित्य के ही द्वारा वैसा अपलाप सम्भव है, जैसा जर्मनी के राष्ट्रीय समाजवादियों द्वारा समाजवाद का अपलाप किया जा चुका है। समाजवाद के प्रसंग में १३.७.७४ के 'हरिजन' में गाँधी जी ने लिखा था :

"समाजवाद पहले समाजवादी से शुरू होता है। अगर ऐसा एक भी समाजवादी हो तो आप उस पर शून्य बढ़ा सकते हैं। पहले शून्य से उसकी ताकत दस गुनी हो जायेगी। उसके बाद हर एक शून्य का अर्थ पिछली संख्या से दस गुना होगा। परन्तु यदि आरम्भ करने वाला स्वयं ही शून्य हो-तो कितने शून्यों के बन जाने पर भी परिणाम शून्य ही होगा। शून्यों के लिखने में जितना समय और कागज खर्च होगा, वह भी व्यर्थ जायेगा।" गाँधीजी ने जो समाजवादियों के सम्बन्ध में कहा, साहित्यकार के प्रसंग में भी उतना ही मौजूँ है।

साधक पेशगी या फर्मान लेकर साधना नहीं करता। यह दूसरी बात है कि हँसिए-हथौड़े या हल-चक्के पर कविता लिखी जा सकती है, तिल को ताड़ और ताड़ को तिल साबित करने के लिए अक्षरों के तार जोड़े जा सकते हैं, समाजवाद का नाम लेकर ऐयाशी करने वाले हवाई मिनिस्टरों के त्याग और तपस्या के झूठे लतीफे गढ़े जा सकते हैं और ऐसा कर मतलब साधने वाले पर्चेबाज छैल समितियों में नामजदगी और नौकरी में तरक्की पा सकते हैं। पर इस बेहयाई का समाजवाद और साहित्य से कोई जायज सरोकार नहीं रह सकेगा।

साहित्य लोकतांत्रिक समाजवाद के लिए वस्तुतः वही कर सकता है जो खुफ़ियों, मसखरों, हाँ-हुजूरों, मार्कनन्दनों के क़ाफिले तथा भाषणनंद वजीरों के दल नहीं कर सकते और ऐसा वह स्वधर्म के कारण कर सकता है, पुरस्कार, फर्माइश, तरक्की, वाहवाही और लाभ के लोभ में नहीं। विचारक की उद्भावना, नेता के निश्चय, शास्त्रकार के निरूपण और प्रशासक तथा राजपुरुष के व्यवस्था-संचालन किसी राजनीतिक भावधारा को अपने नेतृत्व में अधिक से अधिक केवल संचारी दशा तक पहुँचा सकते हैं, पर साहित्य तो उसे जन-जन का संस्कार बनाकर समाज की आगामी पीढ़ियों के हृदय-तल में अधिष्ठित कर सकता है और इस तरह कालपुरुष की इतिहास-परायण सहृदयता में उसे रस-पदवी तक पहुँचने की योग्यता से सम्पन्न बनाकर स्थायी देश तक ले जा सकता है। साहित्यकार यदि सिद्ध और समर्थ हो, तो वह वाल्मीकि की तरह राजनीतिक भविष्यत् को और व्यास की तरह उसके अतीत को अपने वर्तमान में बैठे-बैठे बाँच सकता है, उसके अकाल को त्रिकाल में और त्रिकाल को अकाल में देख और

दिखा सकता है, पर अपने इस विराट् रूप से पृथक् होकर अपने वामन रूप में भी वह अपनी पसन्द की राजव्यवस्था का कल्याण कर सकता है। वह चंद की तरह अपने पृथ्वीराज का जन्म और मरण में साथ दे सकता है, वाल्मीकि की तरह स्वयं जंगल में रहकर राजभवन के निर्वासित निरपराध सतीत्व के प्रतिशोध-समर्थ मातृत्व से मंडित होने की अवधि तक शरण और संरक्षण देकर रामराज्य का मूल सुधार दे सकता है और व्यास की तरह अपने नियोगजात वंशजों के द्वेषमय द्वापर के युद्ध-अवशिष्ट शोणित-समुद्र में स्वयं को खड़ा रखकर भी आने वाले विजातीय युग को निष्कम्प, अनसूय और शुद्धभाव से असीस सकता है :

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभागू भवेत्।।

यदि लोकतांत्रिक समाजवाद को कभी साहित्य का ऐसा साधक मिलेगा, तो पुरस्कार, परवरिश और नामजदगी के लोभ से नहीं, यों उस पड़े हर शून्य का मोल जरूर दसगुना बढ़ता जायेगा।

यह दूसरी बात है कि जिस दीवालिये व्यवस्था के बाजार में सब कुछ बिकाऊ है, तो उसमें साहित्य को भी पुण्य के रूप में अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करना होगा और तब तो साहित्यकार को भी अपने घाटे और मुनाफे का हिसाब रखना ही होगा। कारण स्पष्ट है :

"बुभुक्षितैः व्यारकणं न भुज्यते,
न पीयते काव्यरसः पिपासितैः।।"

वैसी व्यवस्था में रहीम को मन्सबदारी करनी होगी, गंग को सिज्दा बजाना होगा, कुंभनदास को फतेहपुर सीकरी और तुलसी को दिल्ली दरबार में हाजिरी देनी होगी और उनके साहित्य में इन अदायगियों की भी अदाएँ हों, यह सर्वथा स्वाभाविक है। लेकिन यदि साहित्यकार सच्चा है और उसका साहित्य, त्रिकाल के ताल पर थिरकने वाले तारों की झंकार से मेघजल की तरह स्वभावतः झड़कर उतरा है तो आपद्धर्म के बीच स्वधर्म के ऐसे मौके भी आ जाते हैं जब उसे मन्सबदारी गँवाकर भार झोंकना पड़ सकता है, सिज्दा बजाना बन्द कर हाथी के पैरों तले कुचला जाने के लिए रुख्सत होना पड़ सकता है, सलाम किए जाने वाले के मुख को देखकर दुःख लग सकता है और उसके दिल में प्राकृत जन गुणगान करने के पाप के पश्चात्ताप में गिरा सिर धुन कर रो सकती है। और सच पूछिये, तो इसी कारण अदायगियों के बीच रह स्रष्टा और प्रणेता बनने का अवसर भी पाता रहता है। यों गुलाब को हम गुलकन्द बनाकर जब खाना चाहते हैं तो काँटों में खिलखिलाने वाली हँसी का रंग उड़ जा चुका होता है, लेकिन बची रहने वाली खुशबू भी कोई कम बड़ी चीज नहीं होती, गो

कि वह गुंजन से ज्यादा सीत्कार से सामीप्य रखती है और उसको पता देकर उससे कहीं बड़ी चीज वहाँ से लापता हुई होती है।

यहाँ यह कह देना ज़रूरी है कि कोई भी व्यवस्था अपने शिकंजे की मजबूरी में साहित्यकार को बाँधकर जब उससे साहित्य उगाहने लगती है, तो सच्चे साहित्यकार को दारुण पीड़ा होती है और उसका स्वधर्म टूटने लगता है। समाजवाद भी इसका अपवाद नहीं है। मायाको रूस के समाजवादी तानाशाह के दरबार-ए-आम में घोषणापूर्वक कवियों को ललकार कर कह सकता है-दोस्तों, ऐसी पुरजोर कविताएँ लिखी जो लाल सेना के हर कदम पर ताल दे सकें, ताकि पार्टी के अपने सालाने जलसे में जब कामरेड स्तालिन इस्पात की राष्ट्रीय पैदावार की रपट पेश करने लगें तो वे कविता के उत्पादन का हिसाब देना न भूलें। लेकिन, ऐसा कह चुकने के बाद भी वह साहित्यकार के उस स्वधर्म से पल्ला नहीं झाड़ पाता है जिसकी खातिर उसका दर्द उसे आत्महत्या करने को विवश कर देता है और यंत्रणा-कैम्प से बचने के लिए वह जो कुछ रचता है, उसके प्रायश्चित में उसे अन्ततः खुदकुशी करनी ही होती है। यों यह भी आवश्यक नहीं है कि हर साहित्यकार अपने स्वधर्म को न पाल सकने की पीड़ा को भोगने के लिए तैयार हो जाय। प्रतिभाएँ वेश्यावृत्ति नहीं कर सकतीं और आदमी की जीभ कुत्ते की दुम की तरह नहीं हिला करती, ऐसा हर मिसाल के लिए ज़रूरी नहीं कहा जा सकता।

ऐसा भी सम्भव है कि साहित्यकार साहित्य-सृष्टि के प्रसंग में जैसा रहता है, उससे वह बिल्कुल भिन्न और विरुद्ध होकर जिया करता हो। फिर भी कभी-कभी सच्चे नेता और सच्चे प्रणेता की एक जैसी गति हो ही जाती है और तब दोनों ही धैर्य पीकर, संतोष खाकर विपुल पृथ्वी और निरवधि काल में अपने समानधर्मा की प्रतीक्षा करते अविचल खड़े रह सकते हैं और द्वापर-रक्तसागर में आकण्ठ डूबकर महाभारत का प्रणेता और कलियुग के अणुबम के धुएँ में गुम होकर लोकतांत्रिक समाजवाद का नेता संयोग से कभी-कभी बिल्कुल एक ही जैसे वाक्य कहकर उत्तराखण्ड की ओर प्रस्थान करते हैं :

"ऊर्ध्वबाहुर्विरोभ्येण नहि कश्चिच्छृणोति मे।"

हाँ, आज मेरी बात जनता नहीं सुनती है, लेकिन एक दिन सुनेगी ज़रूर, लेकिन तब शायद मैं नहीं रह जाऊँगा।

❏❏❏

३ अगस्त १९९० को कवि-दिवस के अवसर पर हिंदुस्तानी एकेडेमी में आयोजित चतुर्दिवसीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख।

डॉ० एजाज हुसेन की अदबी शख़्सियत

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा

१६४३ में मैंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में जब प्रवेश लिया तो यहाँ का वातावरण एक बौद्धिक आतंक लिए हुए था पर विश्वविद्यालय की परम्पराओं में एक विभिन्न प्रकार का सामंजस्य था। जैसे विश्वविद्यालय के बाहर फिराक़ साहब को लोग अंग्रेजी का प्रोफ़ेसर मानने के लिए तैयार नहीं थे। विद्यार्थियों में शर्ते लगती थी। कुछ उन्हें उर्दू भाषा का प्रोफ़ेसर मानते थे। डॉ० रसाल की गोल टोपी की चर्चाएँ होती। वे थे तो हिंदी विभाग के प्रोफ़ेसर लेकिन उन्हें लोग ज्योतिषी और ब्रजभाषा का कवि ही मानते थे। इसी प्रकार किसी को विश्वास ही नहीं होता था कि हरवंशराय बच्चन अंग्रेजी के प्रोफ़ेसर होगें और डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी ब्रज भाषा के कवि होंगे क्योंकी वह यह मानने के लिए तैयार नहीं थे सिल्क सूट, सफेद हैट और कॉलर में गुलाब फूल लगाये गोरा चिट्टा व्यक्ति जो बेबी ऑस्टिन गाड़ी से उतर कर इतिहास विभाग में लेक्चर देगा। अरबी विभाग में एक प्रोफ़ेसर थे अल हिंदी, उन्हें लोग फ्रेंच का प्रोफ़ेसर मानते थे, और दमड़ी ओझा जो अंग्रेजी विभाग में सेमिनार लेते थे उन्हें लोग पाली और अपभ्रंश भाषा पढ़ाने वाला। उर्दू विभाग के अध्यक्ष प्रो० जामिन अली यू०टी०सी० के कैप्टेन के रूप में जाने जाते थे उन्हें विद्यार्थी उर्दू का प्रोफ़ेसर मानने के लिए तैयार ही नहीं थे। हिंदी विभाग में एक वृद्ध प्रोफ़ेसर जो 'भगवन' के नाम से विख्यात थे पर पढ़ाते थे 'रीतिकालीन' काव्य।

इतना कुछ विवरण मैंने इसलिए दिया ताकि पाठक आज से साठ सत्तर वर्ष पहले के इलाहाबाद विश्वविद्यालय के इस मानवीय सद्भावना और बौद्धिक विचारधारा की गुनगुनाहट का कुछ अनुमान लगा सके। यहाँ ऐसे प्रोफ़ेसर भी थे जो अपने वेतन का ख़ासा हिस्सा आर्थिक रूप से साधन हीन विद्यार्थियों को देते थे। भौतिकी विभाग के श्री सालिगराम भार्गव का लिफाफा मशहूर था। कम से कम विज्ञान संकाय के विद्यार्थी को यह लिफाफा महीने के पहले हफ्ते में मिल जाता था। फ़िराक साहब, रघुबर-

मिट्टू लाल शास्त्री, श्री क्षेत्रेश चट्टोपाध्याय, डॉ० ताराचन्द और उर्दू विभाग के डॉ० एज़ाज हुसेन साहेब उन्हीं हस्तियाँ में से थे। उन दिनों ओरेयेन्टेल बिल्डिंग के सामने एक छोटी सी लॉन हुआ करती थी। लॉन और ओरियेन्टेल विभाग के बीच एक सड़क थी। अपने ऑफ पीरिएड में हमलोग वहीं बैठा करते थे। बैठने वालों में धर्मवीर भारती, डॉ० रघुवंश, गिरिधर गोपाल, विजय देवनारायण साही, विशन टण्डन और डॉ० जगदीश गुप्त आदि हुआ करते थे। हम देखते थे कि उर्दू विभाग में शेरवानी, ढीली मोहड़ी का पायजामा पहने, मख़मूर निगाहों और नशे का दम तोड़ने वाली आवाज वाली एक शख्सीयत बहुधा, फ़िराक साहब या किसी और विद्यार्थी या शोधकर्ता से बातें करता था और कभी क्लास में पढ़ाते समय उसी नशे में डूबी बेतकल्लुफ या इतमीनान की शैली में कुछ कहता था। 'मखमूर निगाहों' का तो अंदाज हमने भी उर्दू शायरी में तरह-तरह के अंदाजों में पढ़ा है पर एजाज़ साहब की आवाज की अलमस्त बेपरवाही और खनक भी नशे की खुमारी पैदा कर सकता है यह मैंने न पढ़ा था न सुना था। दुनिया की बला हो अगर किसी के पास ऐसी आवाज और ऐसा लहजा है तो वह किसी भी मुसीबत का सामना कर सकता है या यूँ कहें कि बड़ी-सी बड़ी मुसीबत को दर किनार कर उसे भगा सकता है। बहुधा उनके हाथ में एक सिग्रेट जली अधजली होती थी और वह उसी लहजे में जब किसी चपरासी से एक गिलास पानी माँगते थे तो लगता था कि वह प्यासे नहीं हैं खुद चपरासी प्यासा है जिनके लिए वह एक गिलास पानी की फर्माइश कर रहे हैं। तशना लबों की वैसे भी उर्दू शायरी में कमी नहीं है पर उजलत भरी बेचैनी और उजरत मंद का यह रिश्ता अनोखा था। सुनते हैं एजाज़ साहब खुद भी शायर थे, प्रोफेसर ज़ामिन अली भी शायर थे, फिराक़ साहब भी शायर थे पर उस तरह का लहजा किसी के पास नहीं था। एजाज़ साहब एक गिलास पानी भी उसी मस्ती के आलम में माँगते थे और उजरत भी देते थे तो ऐसा लगता था कि वह खुद वख्शीश पा कर शुक्रिया अदा कर रहे हैं। उनके बारे में भी यह मशहूर था क़ि उनकी तन्ख्वाह बँट जाती थी। कुछ आदत से मजबूर थे कुछ उनके तकादेदार भी थे। लेकिन मैं कई उर्दू के विद्यार्थियों को जानता हूँ जो उनके ही वजीफे पर आज उर्दू के मशहूर लेखकों में से है। उनके यहाँ तंग निगाही नहीं थीं। न हिंदू, मुसलमान का भेद था। न पण्डित और सैयद शेख का फर्क था। दिल शाहाना और हालत फ़कीरी की थी। बाद में उनके बारे में बहुत-सी बातें मालूम हुईं। खुद उन्हें अपनी ज़िन्दगी के इन तजुरवात को अपनी एक डायरीनुमा संस्मरण में लिखा है। उसमें उनके जीवन की घटनाओं का दिलचस्प विवरण है। एजाज़ साहब के पास विद्वान होने से ज्यादा एक

इन्सान का दिल था, लेकिन ज़िन परेशानियों में वह उलझे थे वह थीं तो व्यक्तिगत लेकिन उसने उनको एक निहायत ही संवेदनशील बना दिया था। भारत की मध्यवर्गीय जीवन की कई ऐसी जटिल समस्यायें होती हैं कि जिसमें इस वर्ग का आदमी केवल झेल-झेल कर पुख़्ता होता है। एजाज़ साहब कभी अपनी जाती परेशानी किसी से कहते नहीं थे शायद इसी ने उनको बहुत ज्यादा बेतकल्लुफ और बेबाक बना दिया था। आज उसको याद करने वाले कई उर्दू के चिंतक और विचारक इलाहाबाद में तो हैं ही यहाँ से बाहर हैदराबाद, दिल्ली, लखनऊ और अलीगढ़ में भी है। कभी-कभी उनसे मुलाकात होती है तो वह उनको बड़े अदब के साथ याद करते हैं।

जिन स्थितियों और परिस्थितियों से एजाज़ साहब गुजरे थे उसने उनको एक विशिष्टता दी थी और वह की साम्प्रदायिकता से बच कर केवल मानवीय आधार पर आदमी और आदमी के रिश्तों में विश्वास रखना। वह हिंदू और हिंदी वालों के भी उतने ही नजदीक थे जितने उर्दू के तालिब इल्मों से। वह जाती तौर पर एक ऐसे इन्सान थे जिसकी संवेदनाओं में संकीर्णता नहीं थी। एकबार मैंने उनसे एक ऐसा ही सवाल पूछ दिया था। मैंने कहा कि उर्दू विभाग ने जितना काम अनीस के मरसीये पर कराये है इतना हिंदू शायरों द्वारा लिखी गई किताबों पर नहीं करवाये। वह कुछ गंभीर हो गए। बोले कैसे ? मैंने कहा चकबस्त, मुलतजी, बनवारी लाल शोला और गुरुनारायन शोला और नानक प्रसाद खत्री ने भी उर्दू फारसी में बहुत कुछ लिखा है। नानक प्रसाद खत्री ने तो फारसी में भी रामायण लिखा लेकिन उस पर कोई शोध हुआ? वह तो मरसीये भी लिखते थे पर उर्दू साहित्य में उनका जिक्र नहीं आया। एजाज़ साहब ने इस बात को नोट किया, लेकिन उनकी मजबूरी थी कि इन विषयों पर कोई सज्जन अलीगढ़ से काम कर रहे थे। बात आई गई खत्म हो गई। पर १९७५ में सैयद मुजाखिर हुसेन ने उर्दू में उर्दू शायरी में कौमी एक जहती के अनासिर किताब छपी तो पता चला कि उस पुस्तक के प्रेरणास्रोत जहाँ डॉ० ताराचंद्र, डॉ० एजाज़ हुसेन और डॉ० एहतशाम हुसेन मसीहुजमाँ थे वहीं मुजाब हुसेन ने उन सारे शायरों का जिक्र करना ज़रूरी समझा और गुरुनारायण श्रीवास्तव का जिक्र किया है। गुलज़ारे नसीम के अतिरिक्त श्री गुरुनारायण श्रीवास्तव के मस्नवी और श्लोक, सोरठा, दोहा, कवित्त आदि के इस्तेमाल को उर्दू शायरी के नये प्रयोगों में शामिल कर लिया गया है।

प्रस्तुत प्रसंग का विवरण केवल इसलिए किया गया है ताकि उन उर्दू के आलोचकों से भिन्न डॉ० एजाज़ हुसैन की सोच थी जो मूर्ति पूजन और सौन्दर्य के मानदण्डों को उर्दू साहित्य में शामिल करना चाहते थे। उस

समय उर्दू साहित्य के इतिहास लेखन की भी नयी योजनाएँ चल भी रहीं थीं फ़िराक साहब भी एक उर्दू साहित्य का इतिहास लिख रहे थे। ढाई तीन बजे शाम की चाय में उर्दू विभाग में शामिल होने का जब भी मुझे अवसर मिला तो मुझे लगा कि प्रगतिशील लेखक संघ के सदस्य होते हुए भी उनकी एक विशेप चिंता ऐसे लेखकों-कवियों के प्रति रही है जो पारम्परित शायरी के प्रति प्रतिबद्ध थे। डॉ० एजाज़ एक ऐसी शख्सियत थे कि जिनके इर्द गिर्द हिंदू-मुसलमान, हिंदी-उर्दू के नये उभरते लेखकों की कवियों और शायरों की भीड़ लगी रहती थी। उन्हीं में एक नये उभरते शायर तेग इलाहाबादी और मुज्जफ़र शाहजहाँपुरी भी हुआ करते थे। उर्दू में लिखने वाले हिंदू शायर भी थे। उन्हीं दिनों कई ऐसे उर्दू के मुसलमान विद्यार्थी भी थे जो हिंदी लेकर बी०ए०, एम०ए० के विद्यार्थी थे। कुछ विचित्र अवसर था और वातावरण था। उनके घर पर भी खासी भीड़ रहती थी। राजापुर में स्थित उनका घर जहाँ तक मुझे याद पड़ता है 'आशियाना' नाम से था जहाँ बहुधा लेखकों और शायरों की भीड़ रहती थी। डॉ० एजाज़ हुसैन एक सादा मिजाज़ हिंदुस्तानी थे। मसीहुजमाँ उन दिनों ज्यादा आधुनिक लगते थे। अक़ील रिजवीं साहब से उन दिनों ज्यादा जान पहचान भी नहीं थी। क्योंकि वह कमलेश्वर के बैच के विद्यार्थी थे, और मैं परिमल का सदस्य था। आज तो वह हमारे नजर्दीकियों में से हैं। एजाज़ साहब एक ओर तो प्रगतिशील लेखक थे दूसरी ओर वह परम्परित गुरु शिष्य संबंध के ज्यादा कायल लगते थे। बाद में एहतशाम हुसैन साहब में कुछ ज्यादा आधुनिकता थी। प्रोफ़ेसर लगते भी थे। एजाज़ साहब विभाग में कुर्सी पर बैटते थे तो भले आफिस का कुछ दबदबा रहा हो पर ज्यादातर मेरे दिमाग में जो तस्वीर है वह उर्दू विभाग के बरामदे में शेरवानी पाजामें में हाथ में सिग्रेट लिए बात-चीत करते टहलते हुए एजाज़ साहब की तस्वीर ही है। फ़िराक साहब अक्सर अंग्रेजी विभाग से लौटते हुए एजाज़ साहब के कमरे में बैठ जाते थे। बहुधा उनके साथ, या कभी-कभी डॉ० जाफ़र रजा के साथ उनके कमरे में बैठने का अवसर मिला है और वहाँ उनसे बात करके लगता था कि उर्दू आलोचना में जहाँ कई गंभीर मसलों पर लोग चिंता व्यक्त करते थे; वहीं एजाज़ साहब बेतक्कलुफी से उन समस्याओं को अपने लहजे के साथ कुछ ऐसा जवाब देते थे कि गंभीर होने के साथ चुभने वाले होते थे।

मुझे जहाँ तक याद पड़ता है उन्हीं दिनों हिंदी विभाग में एक कार्यशाला १५ दिनों की आयोजित की गई थी और विषय भी कुछ हिंदी भाषा से संबन्धित था। एक गोष्ठी में मैंने उर्दू को नागरी लिपि में प्रस्तुत करने की समस्या पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि अगर उर्दू भाषा से 'एजाफ़त' और 'संयुक्त' अक्षरों में कुछ स्वरों को हटा दिया जाय

तो हिंदी उर्दू में ज्यादा फर्क नहीं रह जायेगा। मेरी इस बात पर एहतशाम साहब ने सख्त एतराज किया था और यद्यपि वह मुझे काफ़ी मानते थे फिर भी उनका चेहरा सुर्ख हो गया था। कुछ दिनों बाद जब मैं डॉ० एजाज़ साहब से उनके कमरे में मिला तो वह एक अजीब लहजे में बोले–मैंने सुना आपने उर्दू जबान की जान ही निकाल कर उसकी खलरी ही खड़ी करने का प्रस्ताव रख दिया। मैं पहले कुछ समझा नहीं फिर बोले लिपि और उर्दू ग्रामर ही तो उर्दू की पहचान है। फ़ारसी का इस्तेमाल भले आप बन्द कर दें पर एजाफ़त और नुकता ख़त्म करने पर तो उर्दू मर जाएगी। "यहाँ कहने का मतलब यह कि जहाँ मेरे प्रस्ताव से एहतशाम साहब का चेहरा तमतमा गया था वहीं एजाज़ साहेब ने उसी बात को इतने तनज़ भरे नर्म लहजे में कहा कि मैं चकरा गया। मैंने बहुत सफाई दी लेकिन वह उसी बेतकल्लुफ अन्दाज में भाषा और लिपि से सम्बद्ध अनेकानेक समस्याएँ सुलझाते समझाते रहे। एजाज़ साहब की यह सहनशीलता और एक हल्के से व्यंग्य के लहजे उनके व्यक्तित्व के विशेष गुण थे। आज तो ऐसी हस्तियाँ ग़ायब होती जा रही हैं। शायद उसका एक कारण यह भी है कि इस भाषा के द्वंद्व में वह लहजे भी भूल गये जो बेग़ैर किसी खून खराबे के एक जंग का माहौल टाल सकते थे। नतीजा है कि हर तरफ तोप और तमंचे ही है। बात मनवाने के लिए भाषा नहीं गोली से काम लेने से ही स्पष्ट है कि हम दिनबदिन कायर और दबंग ज्यादा हैं, सभ्य और शाईस्ता कम।

जिन दिनों में मैं कालिदास अकादमी में अपने बुजुर्ग भाई श्री कृष्णदास जी के साथ 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का रिहर्सल करा रहा था, तो पता चला कि दास भाई और एजाज़ साहब किसी उर्दू के नाटक को भी मंचित करने का प्लान बना रहे हैं। एजाज़ साहब की चिंता थी कि उर्दू में नाटक नहीं हैं जब कि पारसी थिएटर में चाहे अमानत रहे हों या आग़ा हश्र कशमीरी उन्हीं के आलेख और कथोपकथन चलते थे। उन दिनों शायद उर्दू में अनुदित कुछ शेक्सपीयर के नाटकों को लेकर मसीहउज़माँ साहब भी उर्दू नाटकों पर काम कर रहे थे और पृथ्वीराज भी शकुन्तला नाटक पृथ्वी थिएटर्स के मंच से जगह-जगह प्रस्तुतियाँ कर चुके थे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा लिखित ताजमहल के आँसू और औरंगजेब की आखिरी रात नाटक मंचित हो चुके थे। एजाज़ साहब से ज्यादा मसीहुज्माँ साहब भी दो तीन नाटकों का आलेख तैयार कर रहे थे। उस सिलसिले में मुझे पता चला कि श्री श्रीकृष्णदास साहेब एजाज़ साहब के जिगरी दोस्तों में हैं। उर्दू में नाटक लिखे जायँ इसमें मेरी भी दिलचस्पी थी। आख़िर जिस मिली जुली संस्कृति

के हम समर्थक थे उसकी बुनियाद ही वाजिद अलीशाह ने कृष्ण राधा के प्रेम और इंद्र सभा से शुरू की थी। यानी पारसी थिएटर और गुलाब बाई की नौटंकियों तक में चाहे वह कानपुर की हो या बरेली और फरूक्खाबाद की उनमें बोल-चाल की भाषा का लहजा ही उर्दू भाषा के अंदाज के साथ था तो फिर आधुनिक जीवन पर आधारित नाटक उर्दू में न हो इसका कुछ रहस्य समझ में नहीं आ रहा था। मोलियर का नाटक "कंजूस" अलकाजी इलाहाबाद में खेल चुके थे। उसका रूपांतरण एक मुसलमान 'कंजूस' के चरित्र को लेकर किया गया था। रेडियों से भी उर्दू नाटक खत्म हो रहे थे। ये सारी चिंताएँ एजाज़ साहब की थीं या मसीहुज़माँ साहब की मैं कह नहीं सकता, पर थीं और एजाज़ साहब भी उसमें उलझे हुए थे।

एजाज़ साहब इसी के साथ एक उर्दू पत्रिका भी निकालते थे और कुछ प्रकाशन भी करते थे। ये सारे कारोबार वह अपने घर पर ही करते थे; जिसका जिक्र उन्होंने अपने संस्मरणों वाली किताब में लिखा है। श्रीकृष्णदास उनके दोस्त ही नहीं थे उनके घर के सदस्य जैसे भी थे। श्रीकृष्णदास जी जितने भावुक थे, एजाज़ साहब उतने ही सहनशील लेकिन जैसा प्यारा खाका एजाज़ साहब ने अपने संस्करणों वाली पुस्तक में खींचा है वैसा सजीव चित्रण कम पढ़न को मिलता है। अपनी जिंदगी के उतार चढ़ाव, अपने तालिबइल्मों के मिजाज और उनकी चिंता, तथा उसी के साथ श्री श्रीकृष्णदास जैसे घर फूँक तमाशा करने वाले व्यक्तित्व पर उनकी कलम एक गुदाज लिए हुए रवाँ हुई है। उसमें किस तरह श्री श्रीकृष्णदास साहब दर्जनों कन्यादान में शामिल होते थे, और कैसे इस कन्यादान के लिए कभी-कभी उनके दोस्तो को भी जहमत उठानी पड़ती थी। यह एक इन्सानी जज़बात का ज़िंदा नमूना है लेकिन उसमें भी एजाज़ साहब को दोस्ताना शुकराने का हाजतमंद नहीं है। इसकी जगह पर यह राज भी खुलता हैं कि एजाज़ साहब अपने दोस्तों का मान रखने के लिए कैसे एक बेगाने की तरह निहायत बेतकल्लुफाना अंदाज़ से दुलराते थे इसकी भी तस्वीर अपने आप खिंच जाती है। ऐसे कई तज़न्देर एजाज़ साहब के संस्मरण में है; जहाँ उनके पूरे चरित्र का एक नमूना हमारे सामने खिंच जाता है। खुद एहतेशाम साहब उनके शिष्य थे और जब भी वह एजाज़ साहब का नाम लेते थे अपने भीतर छिपी भावनाओं को छिपा नहीं पाते थे।

वह जमाना इलाहाबाद विश्वविद्यालय का ऐसा था जिसमें गुरु और शिष्य का यह संबंध धीरे-धीरे खत्म हो रहा था। कहाँ मिलेगें ऐसे गुरु जो शिष्य के क्लास में उससे कहे कि-'मिस्टर .... आप क्लास के बाद मुझसे मिल लें, या कहाँ मिलेंगे ऐसे शिष्य जो उस्ताद का नाम आते ही

अपनी भावनाओं को छिपा न सके। उनकी मेहरबानिया और शफ्कतों के आगे जिनकी आँखें नम न हो। ऐसी कई प्रोफेसरों का संस्मरण मेरे पास है जो शायद बींसवी सदीं के अन्तिम दौर के आते-आते समाप्त थे। यह विद्यार्थियों के साथ स्नेह रखते थे, जो कोई पिता-पुत्र के साथ रखता है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० अमरनाथ झा से लेकर दमड़ी ओझा और प्रोफेसर भार्गव से लेकर एजाज़ हुसैन साहब तक एक ऐसी नस्ल थीं या कहे ऐसी पीढ़ी थी जहाँ विद्यार्थी इतमीनान से अपनी तकलीफ को कम से कम झेलते हुए पढ़ सकता था। आज तो लगता है यह रिश्तें भी अब कृत्रिम व्यवसाय के तहत धुँधले हो चुके हैं।

आज हिंदुस्तानी एकेडेमी के पचहत्तरवें साल पर एजाज़ हुसैन की याद करने वाली पीढ़ी समाप्त हो रही है; लेकिन इस नयी पीढ़ी को भी ऐसे विद्वानों और पूर्वजों को याद करके हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। भारत के विश्वविद्यालय, भारत की एकेडेमियाँ और बड़े-बड़े संस्थान बिना इस मानवी संवेदना के सूनी ईमारतें बनकर न रह जायँ इसी कामना के साथ एजाज़ साहब की याद में यह छोटा लेख केवल एक श्रद्धांजलि मात्र हैं।

❑❑❑

सरयू कुटीर, मधवापुर
इलाहाबाद।

(प्रो० एजाज हुसैन स्मृति व्याख्यान माला के अर्न्तगत आयोजित १६.४.०२ की संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख)

सचिव, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, १२-D कमला नेहरु मार्ग, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित और माधो प्रिण्टर्स, २४२ पुराना बैहराना, इलाहाबाद। दूरभाष ६०४६३५, ६६७३३० द्वारा मुद्रित